श्रीमत्कृष्णयज्वप्रणीता

मीमांसा-परिभाषा

(बृहद हिन्दी व्याख्या)

डॉ० शान्ती पाण्डेय

वाराणसेय संस्कृत संस्थान
जगतगंज, वाराणसी-२

॥ श्रीः ॥

श्रीमत्कृष्णयज्वप्रणीता

मीमांसा-परिभाषा

वृहद हिन्दी व्याख्या

हिन्दी व्याख्याकारः

डॉ० शान्ति पाण्डेय

प्रवक्ता-संस्कृत

काशी विद्यापीठ

वाराणसी

प्रकाशक :



वाराणसेय संस्कृत संस्थान

जगतगंज, वाराणसी-२

© प्रकाशक
वाराणसेय संस्कृत संस्थान
सी २७/६४, जगतगंज
वाराणसी–२

प्रथम संस्करण—१९८९

मूल्य : २०·००

मुद्रक—
आनन्द प्रिंटिंग प्रेस
सी २७/१७० ए, जगतगंज
वाराणसी–२

निवेदन

कृष्णयज्वा द्वारा विरचित 'मीमांसा-परिभाषा' मीमांसा का एक लघु प्रकरण ग्रन्थ है। इसमें मीमांसा दर्शन के सभी प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसमें धर्माधर्म निरूपण, ब्राह्मण-वाक्य-भेद, अपूर्व, नियमविधि, परिसंख्या-विधि श्रुति आदि छः प्रमाण, भावना-आर्थीभावना, शाब्दी भावना अर्थवाद, मन्त्र, कर्मभेद निरूपण आदि मीमांसा के प्रमुख विषयों पर विचार किया गया है।

यही कारण है कि विश्वविद्यालयों में मीमांसा परिभाषा एम० ए० के पाठ्यक्रम में निर्धारित की गयी हैं। कर्मकाण्ड और यज्ञ का प्रचलन कम हो जाने के कारण मीमांसा के पारिभाषिक पद समझ में नहीं आते। मेरा ध्यान रहा है कि 'मीमांसा-परिभाषा' की हिन्दी व्याख्या में छात्रों की सभी समस्याओं का समाधान हो जाय। मैंने व्याख्या में धर्म, भावना, अर्थवाद, मन्त्र आदि के सम्बन्ध में तथा पुरोडाश, जुहु, चमस आदि के सम्बन्ध में विशद व्याख्या प्रस्तुत की है।

इस ग्रन्थ की भूमिका में छात्रों की विशेष सुविधा को ध्यान में रखते हुए मैंने धर्म, अपूर्व, नियम-विधि, परिसंख्या विधि तथा भावना-शाब्दी भावना, आर्थी भावना का विशेष प्रतिपादन किया है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के मीमांसा दर्शन के प्रवक्ता लक्ष्मीकान्त खनङ्ग जी के प्रति मैं विशेष आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ का अनुवाद कार्य सम्पन्न करते समय मीमांसा शास्त्र के सिद्धान्तों तथा पारिभाषिक शब्दों को समझने में विशेष सहायता प्रदान की है।

मैं अपनी बेटियों एकता और समता को हार्दिक धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने गृहस्थी के कार्य में मेरी सहायता की, जिससे इस ग्रन्थ की रचना के लिए मुझे पर्याप्त समय मिल सका।

मैं अपने पति इञ्जीनियर श्री कृपाशंकर पाण्डेय जी के प्रति विशेष आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे समय-समय पर प्रोत्साहन देकर मेरे कार्य को सम्पन्न करने में सहायता की है।

इस ग्रन्थ का प्रूफ देखने में मेरे भाई शिवराम प्रसाद चतुर्वेदी और नन्हे ने विशेष मदद की है। अतः, मैं उनकी विशेष आभारी हूँ। मेरी कुछ अस्वस्थता के कारण प्रूफ के कार्य में कुछ त्रुटियाँ रह गयी हैं जिसके लिए एक शुद्धि-पत्र ग्रन्थ के पीछे लगा दिया गया है।

श्रद्धेय गुरुजी अमरनाथ पाण्डेय के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरे ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखने की कृपा की।

इसके अतिरिक्त वाराणसेय संस्कृत संस्थान के प्रकाशक महोदय, विशेष धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिए सहर्ष स्वीकार कर लिया और अविलम्ब इसका प्रकाशन किया।

शान्ति पाण्डेय

सिंचाई विभाग कालोनी
सिगरा, वाराणसी
मकरसंक्रान्ति, १४ जनवरी १९८९

प्राक्कथन

मैंने मीमांसा परिभाषा की डा० शान्ति पाण्डेय द्वारा विरचित व्याख्या का अवलोकन किया। मीमांसा परिभाषा तथा अर्थ संग्रह मीमांसा के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी पुस्तकें हैं, इसीलिए ये विश्वविद्यालयों के पाठक्रमों में निर्धारित की जाती हैं। मीमांसा परिभाषा में मीमांसा के महत्त्वपूर्ण विषयों का संक्षेप में विवेचन प्राप्त होता है। छात्रों के लिए यह आवश्यक है कि वे मीमांसा के पारिभाषिक पदों के रहस्य को हृदयङ्गम करें, क्योंकि उन्हीं के आधार पर मीमांसा-दर्शन का चित्र अङ्कित किया जा सकता है।

डा० शान्ति पाण्डेय कृत व्याख्या में यह प्रयास किया गया है कि सारी अपेक्षित सामग्री प्रस्तुत कर दी जाय तथा पारिभाषिक पदों का लक्षण पूर्णतः स्पष्ट कर दिया जाय जिससे विषय को समझने में छात्रों को कोई कठिनाई न हो। धर्म, अपूर्व, भावना आदि का अत्यन्त विशद विवेचन मीमांसा के ग्रन्थों में मिलता है। इन पदों का प्रयोग मीमांसा के अतिरिक्त अन्यत्र भी मिलता है। इससे मीमांसा के व्यापक प्रभाव का प्रकटन होता है। व्याख्या में डा० शान्ति की दृष्टि रही है कि मीमांसा के मौलिक सिद्धान्तों का पूर्णतः स्फुटीकरण हो जाय और ग्रन्थ की शैली का स्वारस्य भी समझ में आ जाय।

डा० शान्ति पाण्डेय ने भारतीय दर्शनों का अच्छा अध्ययन किया है। उन्होंने न्याय दर्शन के कारण सिद्धान्त पर एक महत्त्वपूर्ण कृति का प्रकाशन किया है। अनेक वर्षों तक अध्यापन करने के कारण वे विषय को स्पष्ट करने में पूर्णतः समर्थ हैं। मीमांसा परिभाषा की उनकी व्याख्या नितान्त उपयोगी है। भूमिका में मीमांसा के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों का विवेचन किया गया है। मुझे विश्वास है कि डा० पाण्डेय की यह व्याख्या छात्रों के लिए उपयोगी होगी।

डॉ० अमरनाथ पाण्डेय
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

भूमिका

मान् धातु में सन् प्रत्यय लगाकर पुनः स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यक्ष लगने से मीमांसा शब्द की निष्पत्ति होती है। मीमांसा शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से पूजा, जिज्ञासा या विचार के अर्थ में होता है। पाणिनी ने अपने सूत्र में मान् धातु को स्पष्ट किया है—

'मान्वध्दान्शान्भ्यी दीर्घाश्चाऽऽभ्यासस्य'

(पा० सू० ३।१।६)

मान् धातु का प्रयोग पूजा जिज्ञासा या विचार के अर्थ में होता है। वार्तिककार ने लिखा है—

मानेर्जिज्ञासायाम् । मान् पूजायाम् ।

कोई भी विचार मीमांसा नहीं है, अपितु पूजित विचार ही म मांसा हो सकता है जैसा कि भामती टीकाकार वाचस्पतिमिश्र ने लिखा है—

'पूजितविचारवचनो मीमांसा शब्दः'

मीमांसा शास्त्र या ग्रन्थ बाद में लिखे गये किन्तु मीमांसा शब्द का प्रयोग वेद, संहिता. ब्राह्मण, सूत्र, उपनिषद् में अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जैमिनि की सूत्र रचना से बहुत पूर्व 'मीमांसा' बीज रूप में विद्यमान था। तैत्तरोय संहिता में लिखा है।

'उत्सृज्यां नोत्सृज्यां इति मीमांसते ब्रह्मवादिनः

(६।५।७।१)

कौषीतकि ब्राह्मण में भी मीमांसा शब्द का प्रयोग विचार के अर्थ में किया गया है—

'उदिते होतव्यमनुदिते इति मीमांसते। —तस्मादनुदिते होतव्यम् ।२।९

मीमांसा शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

मीमांसा दर्शन समझने से पूर्व मीमांसा शास्त्र के प्रमुख आचार्यों और उनकी कृतियों को जान लेना आवश्यक है।

महर्षि जैमिनि ३०० ई० पू०

महर्षि जैमिनि का मीमांसा सूत्र मीमांसा शास्त्र की सर्वप्रथम रचना है। इनके सूत्र ही मीमांसा दर्शन की आधारशिला है। परवर्ती मीमांसकों

ने इन्हीं सूत्रो पर वृत्ति भाष्य और वार्तिक आदि लिखे। इस ग्रन्थ में १२ अध्याय है, इसीलिए इसे द्वादशलक्षणी कहा गया।

उपवर्ष तथा भवदास १००-२०० ई०

इन दोनों वृत्तिकारों की रचनायें अनुपलब्ध हैं किन्तु कुमारिल भट्ट ने अपने श्लोक वार्तिक में इनका उल्लेख किया है।

शबर स्वामी २०० ई०

महर्षि जैमिनि के बाद, मीमांसा सूत्र पर लिखा गया शबर स्वामी का 'शाबर-भाष्य' ही मीमांसा शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध होता है जिसमें मोमांसा सूत्र के १२ अध्यायों की सविस्तार व्याख्या की गई है।

भर्तृमित्र ३००-६०० ई०

इनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्तिक में भर्तृमित्र को आचार्य कहा है। इन्होंने पूर्व मीमांसा ग्रन्थ पर अनेक उप-सिद्धान्त निकाला।

कुमारिल भट्ट ६२०-७०० ई०

मीमांसा शास्त्र में कुमारिल भट्ट का नाम सर्वोपरि है। श्लोकवार्तिक तन्त्रवार्तिक, टुप्टीका कुमारिल भट्ट की प्रमुख रचनायें हैं इन ग्रन्थों में शाबर भाष्य की सविस्तार व्याख्या की गयी है। श्लोकवार्तिक अनुष्टुप् छन्द में लिखा गया है।

प्रभाकर मिश्र ६५०-७२० ई०

प्रभाकर मिश्र कुमारिल भट्ट के शिष्य थे, इन्होंने अपने गुरू के सिद्धान्तों का खण्डन किया तथा अपने सिद्धान्तों को स्वतंत्र रूप से प्रति-स्थापित किया।

गुरू और शिष्य के नाम से दो पन्थ हो गए—भाट्टमतानुयायी और प्रभाकर मतानुयायी। प्रभाकर अपने गुरू से अधिक बुद्धिमान थे। प्रभाकर के मतानुयायी इनके मत को गुरुमत कहते थे।

इन्होंने शाबर भाष्य पर लाध्वी और वृहती नामक दो टीकायें लिखी।

मण्डन मिश्र ६८०-७५० ई०

ये भाट्टमतानुयायी थे। इन्होंने विधि-विवेक भावना-विवेक, विभ्रम विवेक, मीमांसा सूत्रानुक्रमणी आदि अनेक मीमांसा ग्रन्थों की रचना की।

उम्वेक भट्ट ६७०-७५० ई०

ये भाट्टमतानुयायी थे। श्लोक वार्तिक तथा भावना विवेक पर इन्होंने टीका लिखी।

शालिकनाथ ६९०-७६० ई०

आप महामहोपाध्याय शालिकनाथ प्रभाकर के प्रमुख शिष्य थे जिन्होंने अप गुरु के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए उनके ग्रन्थ लाधवी पर दीप शिखा तथा वृहती पर 'ऋजुविमला' लिखा। इसके अतिरिक्त इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रकरणपांञ्चिका है। इस ग्रन्थ से प्रभाकर मत की लोकप्रियता अधिक बढ़ गयी।

वाचस्पति मिश्र ८००-९०० ई०

भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों में आपकी गणना है। मण्डन मिश्र के 'विधि-विवेक' पर इन्होंने न्याय कणिका नामक टीका लिखी। तत्त्व-बिन्दु मीमांसा दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त छहों आस्तिक दर्शन पर इन्होंने टीका लिखी। न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका, भामती आदि प्रसिद्ध टीकायें हैं।

देवस्वामी और सुचरित मिश्र १०००-११०० ई०

देवस्वामी ने द्वादश लक्षणी पर 'संकर्ष काण्ड' नामक टीका लिखी तथा सुचरित मिश्र ने श्लोक वार्तिक' पर काशिका नामक टीका लिखा।

पार्थसारथि मिश्र १०५०-११२० ई०

इन्होंने जैमिनि के पूर्व मीमांसा के १२ अध्यायों पर 'शास्त्र दीपिका' नामक टीका लिखी। इसके अतिरिक्त कुमारिलभट्ट के श्लोक वार्तिक पर लिखी न्याय रत्नाकर तथा टुप्टिका पर लिखी गई तन्त्ररत्न प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। न्याय रत्नमाला स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

श्रीकर और प्रकाश ११०० ई०

श्रीकर की प्रसिद्धि स्मृति निबन्धकार के रूप में है तथा प्रकाश ने मीमांसा प्रकाश की रचना की।

भवनाथ भट्ट १०५०-११५० ई०

शालिकनाथ के बाद प्रभाकर के मतानुयायियों में प्रमुख थे। नय विवेक इनकी प्रसिद्ध रचना है।

भवदेव भट्ट और परितोष मिश्र ११०० ई०

ये दोनों कुमारिल के मतानुयायी थे। भवदेव भट्ट ने व्यवहार तिलक

व्यवहार तन्त्र, कर्मानुष्ठान पद्धति आदि ग्रन्थ लिखा। परितोष मिश्र ने तन्त्र वार्तिक पर आजिता नामक टीका लिखी।

भट्ट सोमेश्वर १२०० ई०

इन्होंने तन्त्रवार्तिक पर 'न्याय-सुधा' नामक टीका लिखी। यह मीमांसा शास्त्र का एक आलोचनात्मक निबन्ध है।

मुरारि मिश्र ११५०-१२०० ई०

'मुरारेः तृतीयपन्थः' मुरारि के नाम से मीमांसा शास्त्र में एक तृतीय मत प्रचलित हुआ।

१३वीं शताब्दी के प्रमुख आचार्य और रचनायें

नन्दीश्वर की प्रभाकर विजय, चिदानन्द पण्डित का नीति तत्त्वाविर्भाव, गंगाधर मिश्र का न्याय-परायण वेदान्तदेशिक की मीमांसापादुका और सेश्वरमीमांसा प्रमुख मीमांसा ग्रन्थ है।

माधवाचार्य १२९७–१३८६ ई०

इनको विद्यारण्य भी कहा जाता था। इन्होंने 'जैमिनीय न्यायमाला विस्तार, नामक प्रसिद्ध मीमांसा ग्रन्थ की रचना की है। इनकी पूर्वपक्ष और सिद्धान्त पक्ष के द्वारा भावों को अभिव्यक्त करने की शैली अधिक लोकप्रिय हुई।

अप्प दीक्षित १५२०–१५९३ ई०

विधि रसायन तथा उपक्रम और पराक्रम नामक मीमांसा ग्रन्थ लिखे। इन्होंने शैव दर्शन और अद्वैत दर्शन पर अनेक ग्रन्थ लिखे।

आपदेव १७वीं शताब्दी

इन्होंने 'मीमांसा न्याय प्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा जिसे आपो देवी कहा जाता है।

१६वीं तथा १७वीं शताब्दी के प्रमुख आचार्य और उनके ग्रन्थ

आपदेव के पुत्र अनन्तदेव ने मीमांसान्यायप्रकाश की व्याख्या लिखी जिसका नाम भाट्टालंकार है। स्मृत्तिकौस्तुभ नामक ग्रन्थ भी लिखा। खण्डदेव ने भाट्टदीपिका और मीमांसा कौस्तुभ नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा।

इसके अतिरिक्त अनन्तदेव के भ्राता जीवदेव का भाट्टभास्कर, शम्भुभट्ट की भाट्टदीपिका पर लिखी गयी टीका, गोपाल भट्ट के द्वारा रचित विधिरसायन भूषण प्रमुख मीमांसा ग्रन्थ हैं।

शंकर भट्ट ने विधि रसायन दूषण नामक ग्रन्थ में अप्पयदीक्षित के विधिरसायन का खण्डन किया है।

वेंकटेश्वर दीक्षित १६०० ई०

इन्होंने कुमारिल भट्ट के ग्रन्थ पर टीका लिखी—वार्तिक भरण, सुलभ मीमांसा, चतुर्दण्डप्रकाशिका प्रमुख ग्रन्थ है।

नारायण भट्ट १५६०–१६५६ ई०

आपने कुमारिलभट्ट के मतानुसार मानमेयोदय नामक ग्रन्थ लिखा। पाणिनी के अष्टाध्यायी पर प्रक्रिया सर्वस्व नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा।

वेंकटाध्वरि १५९०–१६६० ई०

इन्होंने मीमांसापादुका नामक ग्रन्थ में तर्कपाद के विषय को छन्दो बद्ध किया तथा मीमांसामकरन्द में अर्थवाद की प्रमाणिकता प्रतिपादित की।

लौगाक्षिभास्कर १६०० ई०

इन्होंने अर्थसंग्रह तथा तर्कमुदी नामक प्रसिद्ध मीमांसा ग्रन्थ लिखा। सरल शैली में लिखा गया इनका ग्रन्थ अधिक प्रचलित हुआ।

इसके अतिरिक्त १६वीं और १७वीं शताब्दी के बीच राघवेन्द्रव्रती का भाट्टचिन्तामणि, रामकृष्ण दीक्षित का मीमांसान्यायदर्शन, सोमनाथदीक्षित का मयूख मालिका, वेंकटनाथ का मीमांसा पादुका, सेश्वरमीमांसा, वल्लभाचार्य का पूर्व मीमांसा सारिका, जैमिनि सूत्र भाष्य आदि प्रमुख मीमांसा ग्रन्थ लिखे गये।

कृष्णयज्वा १७००–१७६० ई०

१८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कृष्णयज्वा का नाम प्रमुख मीमांसाकों में था, इनका जन्म तिरुपति के निकट वेंकटाचलम् में हुआ था। कृष्णयज्वा तैलङ्ग ब्राह्मण थे। ऐसी किम्वदन्ति है कि इन्होंने अपने जीवन काल में अश्वमेध और वाजपेय-याग दो-दो बार किया था। अतः इन्हें लोग यज्वा के नाम से पुकारते थे। इनका असली नाम कृष्ण था।

कृष्ण यज्वा की एक मात्र रचना मीमांसा-परिभाषा ने आपका नाम अमर कर दिया। यह एक प्रकरण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में मीमांसा के प्रमुख सिद्धान्तों को सरल भाषा में और संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

धर्म

धृञ् धारणे धातु से धर्म शब्द की निष्पत्ति हुई है। 'धारणाद् धर्म इत्याहुः' ऐसा महाभारत में कहा गया है। अर्थात् धारण किया जानेवाला धर्म है। वैशेषिक दार्शनिकों का कथन है—

'यतोऽभ्युदयनिश्रेयसिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है, उसे धर्म कहते हैं। नैयायिकों ने वेद—विहित कर्म को धर्म तथा वेद से निषिद्ध कर्म को अधर्म कहा हैं। मीमांसको ने भी यही सिद्धान्त स्वीकार किया है। सुप्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर तथा उनके अनुयायियों का भी यही मत है।

मीमांसा दर्शन में धर्म का वह सामान्य अर्थ नहीं है, जिसको जन-साधारण स्वीकार करते हैं। तथा जिसके नाम पर मतमतान्तर एवं विवाद प्रस्तुत होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक कृष्ण यज्वा ने धर्म की परिभाषा दी है—

'वेदवोधितेष्टसाधनताको धर्मः—यथा यागादिः।
वेदबोधिताऽनिष्ट साधनताकोऽधर्मः—यथा कलञ्जभक्षणादिः।'

वेदविहिति इष्ट का जो साधक है, वही धर्म है। जैसे—यागादि इष्ट (स्वर्ग) के साधक हैं, अतः ये धर्म हैं। वेद में जिस कर्म को अनिष्ट का साधक बताया गया है, वह अधर्म है। जैसे—प्याज का बीज या कलञ्ज का भक्षण, वेद में अनिष्ट का साधन बताया गया है।

'वेदबोधितेष्टसाधनताको धर्मः'

इस लक्षण में विशेषण और विशेष्य दो पद हैं। वेद बोधितत्व विशेषण है और इष्ट साधनताकत्व विशेष्य है। धर्मत्व पद के द्वारा लक्ष्य का निर्देश किया गया है। 'वेद—बोधित' यह पद भोजनादि में अति-व्याप्ति करण के लिए दिया गया है। भोजन करना, भोग विलासादि लौकिक सुख के साधन मनुष्य के लिये इष्ट तो हैं किन्तु इन्हें हम धर्म नहीं कह सकते क्योंकि ये वेद बोधित नहीं हैं। मीमांसा शस्त्रसार में लिखा है—

क्षुधानिरासादिप्रयोजनमुद्दिश्य विधीयमानानां भोजनादीनां तु न धर्मत्वम्।

'इष्टसाधनताकः' यह पद श्येन याग में अति व्याप्ति वारण के लिए दिया गया है। यदि कोई यह शङ्का करता है कि 'श्येनाभिचरन् यजेत' यह

विधिवाक्य वेद विहित हैं तथा शत्रुवध स्वरूप इष्ट का साधक भी हैं, किन्तु ऐसी बात नहीं है। यद्यपि श्येनयाग अनर्थ नहीं हैं, तथापि ऐसा करने से शत्रु का बध होता है, अतः यह अनर्थ का साधक हैं, इसे हम धर्म नहीं कह सकते। हिंसा नहीं करनी चाहिए, ऐसे निषेधपरक वाक्य का भी उल्लेख किया गया है—

'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'

इस निषेध शास्त्र के बल पर हम श्येन याग में अधर्मत्व की स्थापना करते हैं।

महर्षि जैमिनि ने मीमांसासूत्र में धर्म का अधोलिखित लक्षण दिया है—

'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' चोदना लक्षण रूप अर्थ ही धर्म है। चोदना का अर्थ है वैदिक—प्रबोधक वचन अर्थात् चोदनायें धर्म के विषय में प्रमाण हैं। वैदिक वचनों द्वारा जिसे व्यवस्थित किया जाता है, वही धर्म है। ऐसा धार्मिक कर्म (याग) जो मनुष्य का सर्वोच्च हित साधने वाला है, वही धर्म है। मीमांसा—शास्त्र में यज्ञ को धर्म कहा गया है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमा-न्यासन् शबर स्वामी पू० मी० सू० १।१।२

भाष्य में चोदना शब्द का अर्थ बताया गया है—

चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः। श्लोकवार्तिककार ने लिखा है ।

'चोदनैव प्रमाणं चेत्येतद्धर्मेऽवधारितम्'।

'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः'—धर्म के इस लक्षण को भाष्यकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यत्र परोक्षापरोक्षद्विविध—चोदनाया अपि सङ्ग्रहो विद्यत इति प्रत्यक्ष वेदस्य विधिमन्त्रार्थवादरूपस्य प्रमाण-विचारानन्तरं परोक्षतद्वाक्यप्रामाण्यविचार इत्युपपन्नम्। 'मीमांसा शास्त्रानुसार चोदना लक्षणरूप अर्थ ही धर्म है। चोदना यह परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकार की होती है। विधि-वाक्यों से दिया गया अर्थवान उप-देश है, वह धर्म है और जो अपरोक्ष रूप से भी अनर्थकारी है, वह अधर्म है। श्येनयाग को हम धर्म नहीं कह सकते क्योंकि वह अपरोक्ष रूप से

अनर्थकारी है। मीमांसा श्लोक वार्तिक में जैमिनि के धर्म से सम्बन्धित सूत्र की निम्न प्रकार से व्याख्या की गयी है—

उभयमिह चोदनया लक्ष्यतेऽर्थोऽनर्थश्च। कोऽर्थः—निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः। कोऽनर्थः यः प्रत्यवायाय श्येनो वज्र इषुरित्येवमादिः तत्रानर्थोऽधर्म उक्तो मा भूदित्यर्थ ग्रहणम्।

चोदना-शब्द से अर्थ और अनर्थ दोनों लक्षित होता है। निःश्रेयस के लिए किया गया ज्योतिष्टोमादियाग अर्थ है और प्रत्यवाय के लिए किया गया श्येनयाग वज्र इषु प्रभृत्ति अनर्थ है। यहाँ विधायकवाक्य और निषेध-वाक्य दोनों ही चोदना हैं। विधेय इष्ट होने के कारण धर्म है और निषेध अनिष्ट होने के कारण अधर्म है।

मीमांसा शास्त्र के अनुसार शब्द प्रमाण के द्वारा ही अतीन्द्रिय पदार्थों का बोध सम्भव है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण अतीन्द्रिय अर्थ के ज्ञापक नहीं हो सकते।

'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्। चोदना हि भूतं भविष्यं सूक्ष्मं, व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुं न यत्किञ्चनेन्द्रियम्।

शाबर भाष्य शब्द प्रमाण अर्थात् वेद के अतिरिक्त धर्म के सम्बन्ध में अन्य कोई ज्ञान का साधन नहीं है। शब्द के अतिरिक्त अन्य प्रमाण प्रत्यक्ष पर आधारित हैं, अतः इनके द्वारा धर्म की परिभाषा या व्याख्या नहीं की जा सकती। पुरुष के द्वारा किया गया प्रत्यक्ष निर्दोष नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुष के अन्दर साधारण, रूप से भ्रम प्रमादादि के रहने की संभावना होती है। वेदवाक्यअपौरुषेय हैं, अतः वेदों में इस प्रकार की संभावना नहीं होती।

पुरुषाशक्तितस्तत्रसापवादत्व सम्भवः।
वेदस्यापौरुषेयत्वे सिद्धा त्वेवं प्रमाणता॥

मीमांसक यागादि को धर्म मानते हैं। तथा उनके अनुसार यागादि क्रिया और उनके सम्पादक द्रव्य गुण आदि ही धर्म हैं।

श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः।
चोदना लक्षणैः साध्या तस्मात् तेष्वेवधर्मता॥

श्लोक वार्त्तिक

भाट्टरहस्य में धर्म के विषय में सविस्तर विचार किया गया है—

'इष्ट साधनत्वे सति, कृति साध्यत्वे सति बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं धर्मत्वम् ।'

अर्थात् जिस कर्म में इष्ट साधनत्व, कृति साध्यत्व तथा बलवदनिष्टाननुबन्धित्व तीनों हों, वह कर्म प्रशस्त कहा जाता है तथा प्रशस्त कर्म ही धर्म है ।

ज्योतिष्टोम याग में ये तीनों ही विशेषायें मिलती है अतः वह धर्म है। किन्तु श्येन याग में इष्ट साधनत्व है उससे शत्रुमरण रूप इष्ट की सिद्धि होती है। यह याग होने से कृति का साध्य भी है अर्थात् कृतिसाध्यत्व भी इसमें हैं। परन्तु इस याग में बलवदनिष्टाननुबन्धित्व नहीं है अर्थात् श्येन याग बलवद् अनिष्ट का अनुबन्धी है। हिंसा करने से बाद में नरक की प्राप्ति होती है। अनिष्ट का अननुबन्धी न होने से श्येन याग को हम धर्म नहीं कह सकते।

—अपूर्व—

अपूर्व मीमांसा शास्त्र की एक विशिष्ट मान्यता है। मनुष्य जब कर्म करता है उस समय उसे फल नहीं मिलता अपितु कालान्तर में उसके कर्म का फल मिलता है। आशुतर विनाशी कर्म से कालान्तर भावी फल कैसे प्राप्त हो सकता है? मीमांसक इस कर्म को 'तृतीयक्षणवृत्तिध्वंस प्रतियोगी मानते हैं। कार्य प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है दूसरे क्षण में रहता है तथा तीसरे क्षण में विनष्ट हो जाता है। ध्वस्त होने के बाद कर्म फल की उत्पत्ति कैसे कर सकता है? मनुष्य वेदविहित यागादि कर्म करता है किन्तु उस समय स्वर्गादि फल की प्राप्ति नहीं होती? अतः मीमांसक यागादि कर्म और स्वर्गादि रूप फल के बीच में साधन-साध्य भाव स्थापित करने के लिए अपूर्व की कल्पना करते है, जैसा कि प्रस्तुत ग्रन्थ में लिखा है—

'विदितकर्मणां तत्तद्वाक्यैस्तत्तफलसाधनत्वेऽवगते आशुतरविनाशिनां कर्मणां कालान्तरभावि फलसाधनत्वोपपत्त्यर्थमन्तरा पुण्यपापरूपमपूर्वं कल्पयते ।'

याग रूप कर्म का (साधन का) स्वर्ग रूप (साध्य) फल के साथ साहित्य अपूर्व के माध्यम से होता है।

'ततश्च यागादेरपूर्वद्वारा स्वर्ग साधनत्वं न साक्षात् ।' मीमांसकों ने

अपूर्व को शक्तिरूप माना है। अभावरूप नहीं। याग कर्म के ध्वस्त हो जाने पर भी उस ध्वस्त कर्म से अपूर्व की उत्पत्ति होती हैं।

वस्तुतः अपूर्व यज्ञ सम्पादन के पूर्व नहीं रहता इसकी उत्पत्ति यज्ञ सम्पादन के बाद एक नवीन शक्ति के रूप में होती है। यह एक अदृश्य शक्ति है।

'किसी यज्ञ में प्रमुख और गौण कर्म जब सम्पादित होते हैं, तो वे असमर्थता को दूर करते हैं। यदि उनमें ऐसी असमर्थता को दूर करने की शक्ति नहीं मानी जायेगी तो उनका सम्पादन और असम्पादन एक ही स्तर पर हो जायेगा। यह समर्थता या शक्ति या तो मनुष्य में होती है या सम्पादित यज्ञ में होती है, शास्त्र में अपूर्व नाम से घोषित होती है।'

अपूर्व शक्ति को मानना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। इसके अभाव में पुण्य कर्म यज्ञ से जैसे स्वर्गरूप फल की प्राप्ति सम्भव नहीं हो पाती उसी प्रकार पाप कर्मो का दुःख रूप फल भी प्राप्त नहीं हो पाता और सम्पूर्ण संसार में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती। इस स्थिति में कर्म ध्वस्त हो जाने पर मनुष्य द्वारा किया हुआ पाप कर्म भी ध्वस्त हो जायेगा और प्रायश्चित्त आदि का विधान व्यर्थ हो जायेगा।

इसीलिए मीमांसक कर्म और फल के बीच पुण्य और पाप रूप अपूर्व की कल्पना करते हैं।

इस अपूर्व शक्ति की सिद्धि प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं होती। अपूर्व का ज्ञान हमें अर्थापत्ति प्रमाण से होता है। जैसे—देवदत्त मोटा है, वह दिन में नहीं खाता है। तो हम यह मान लेते हैं कि वह रात्रि में अवश्य खाता होगा, अन्यथा वह मोटा नहीं होता। इसी प्रकार मीमांसक यज्ञ और स्वर्ग के बीच अर्थापत्ति प्रमाण से अपूर्व की कल्पना करते हैं।

'हमें यह मान लेना है कि यज्ञ में हमें सूक्ष्म शक्ति की प्राप्ति होती है। यद्यपि स्वयं यज्ञ कुछ काल के उपरान्त समाप्त हो जाता है और यह शक्ति स्वर्ग फल को उत्पन्न करने का कारण है और उसे हम यजमान की आत्मा में अवस्थित या अदृश्य प्रभाव के रूप में मान सकते हैं। मीमांसक लोग यह नहीं मानते कि धार्मिक कर्मो के फल ईश्वर द्वारा दिये जाते हैं।'

न्यायकोशकार ने अपूर्व का लक्षण किया है—'यागादि जन्यः स्वर्गादि-जनकः कश्चन गुणविशेषः'

कुमारिल भट्ट ने भी अपूर्व को एक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है—

यागादेवफलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिध्यति।
सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते ॥
तन्त्रवार्तिक

अपूर्व के चार प्रकार

१. परमापूर्व ३. उत्पत्यपूर्व
२. समुदायापूर्व ४. अङ्गापूर्व

१. **परमापूर्व**—जो अपूर्व साक्षात् फल का जनक होता है उसे परमापूर्व कहते हैं।

इसे फलापूर्व भी कहते हैं। अङ्गापूर्व और उत्पत्यपूर्व दोनों मिलकर फलापूर्व की उत्पत्ति करते हैं।

तदेव फलापूर्वं। तत्करणत्वं च प्राच्योदीच्याङ्गविशिष्टस्य प्रधानस्य भवति। न प्रधानमात्रस्य। मीमांसा-परिभाषा

पूर्वाङ्ग और उत्तराङ्ग से विशिष्ट प्रधान याग फलापूर्व का जनक है, केवल प्रधान याग नहीं।

समुदायापूर्व—समुदाय युक्त यज्ञ में प्रत्येक समुदाय का अपना एक अपूर्व होता है जैसे दर्शपूर्णमास याग में दर्शकाल और अमावस्या में होने वाला तीनों यागों का (आग्नेय, ऐन्द्र ऐन्द्रदधियाग) एक समुदाय है पूर्णमास के समय किया जाने वाला तीन यागों का (आग्नेय, अग्निसोमीय, उपांशु) एक समुदाय है। दर्शयाग के तीनों यागों के द्वारा उत्पन्न उत्पत्यपूर्व तथा प्रयाज, अनुयाज आदि अङ्गभूत यागों के द्वारा उत्पन्न उत्पत्यपूर्व ये दोनों मिलकर त्रिकापूर्व उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार पौर्णमास काल में किये जाने वाले तीनों यागों से उत्पन्न उत्पत्यपूर्व तथा अङ्गभूत प्रयाजादि के द्वारा उत्पन्न उत्पत्यपूर्व एक त्रिकापूर्व उत्पन्न करते हैं उन दोनों त्रिकापूर्वो के द्वारा समुदायापूर्व उत्पन्न होता है और उससे फल की प्राप्ति होती है।

एवं च पौर्णमास्यामाग्नेयादिजन्यैस्त्रिभिरपूर्वै प्रयाजादिजन्योत्पत्त्यपूर्वसचिवैः समुदायापूर्वमेकं जन्यते तथा दर्शेऽपि आग्नेयैन्द्रद्वयजन्यस्त्रिभिरपूर्वैरङ्गोत्पत्यपूर्वं सचिवैरेकं त्रिकापूर्वं जन्यते, ताभ्यां त्रिकापूर्वाभ्यां

आग्नेयाद्युत्पत्यपूर्वत्रितयजन्याभ्यां फलजनकीभूतं महापूर्वं फलापूर्वनामकं जन्यते, ततश्च फलम् । मीमांसा-परिभाषा

उत्पत्यपूर्व—प्रधानकर्म और अङ्गकर्म का साक्षात् साहित्य संभव नहीं है किन्तु उत्पत्यपूर्व के द्वारा दोनों का साहित्य सम्भव है। प्रधान कर्म से उत्पत्यपूर्व उत्पन्न होता है, जिससे प्रधान कर्म और परमापूर्व के बीच साहित्य बनता है।

प्रधानकर्मणः स्वरूपेण अङ्गसाहित्याभावेऽपि उत्पत्यपूर्वद्वारासाहित्य संभवात्। प्रधानस्य सर्वाङ्गसाहित्यसिद्ध्यर्थं प्रधानकर्म परमापूर्वयोर्मध्ये-प्रधानमात्रजन्यमुत्पत्तिनामकं किञ्चिदपूर्वमस्तीत्यङ्गीकारात्।

अङ्गापूर्व—अङ्गभूत कर्म प्रधानकर्म के उपकारक हैं किन्तु इन अङ्ग कर्मों का परस्पर साहित्य होगा तभी ये प्रधान कर्म का उपकार करेंगे। मीमांसक यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक अङ्ग अपने द्वारा अङ्गापूर्व उत्पन्न करते हैं और उन अङ्गापूर्वो का परस्पर साहित्य समझना चाहिए।

प्रत्येक अङ्गविधि अङ्गापूर्व को उत्पन्न करती है और प्रधान बिधि प्रधानापूर्व (उत्पत्यपूर्व) उत्पन्न करती है और तब अङ्गापूर्व और प्रधानपूर्व ये दोनों मिलकर परमापूर्व या फलापूर्व को उत्पन्न करते हैं। जो स्वर्गादि फल के उत्पादक हैं।

एवमङ्गानामपि परस्परसहितानामेव प्रधानोपकारकत्वात्तेषां स्वरूपेण साहित्याभावात् तत्तदुत्पत्यपूर्वद्वारा साहित्यं बोध्यम्।

कुमारिल भट्ट के अनुसार अपूर्व प्रधान कर्म में या यज्ञकर्ता में एक योग्यता उत्पन्न करता है। कर्त्ता के द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला यज्ञ कर्त्ता में साक्षात् शक्ति को उत्पन्न करता है जो उसके साथ सदैव रहती है तथा अन्तिम फल (स्वर्ग) की प्राप्ति के समय उसका निकटतम कारण बनती है।

कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा
योग्यता शास्त्रगम्या या परा सापूर्वमिष्यते।

तन्त्रवार्तिक

अपूर्व विधि, नियम विधि और परिसंख्या विधि

अपौरुषेय वाक्य वेद है। यह वेद, विधि, मन्त्र, नामधेय और अर्थवाद के भेद से पाँच प्रकार का होता है।

यहाँ वेद के अंश विधि को विस्तार से समझ लेना आवश्यक है अर्थ संग्रह में इसकी परिभाषा की गई है—

तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। स च तादृशप्रयोजनवदर्थविधाने-नार्थवान यादृशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं विधत्ते—यथा अग्निहोत्रं जुहु-त्यात्स्वर्गकाम'

वेद का वह अंश जो अज्ञात अर्थ का ज्ञापक है विधिवाक्य है। अर्थात् जिस विषय का ज्ञान विधिवाक्य से होता है, उसका ज्ञापक एकमात्र वही वेद वाक्य होता है। प्रत्यक्ष अनुमान, अर्थापत्ति, तथा अनुपलब्धि प्रमाणों से उसका बोध नही हो सकता है। अतः प्रमाणान्तर से अप्राप्त का विधान करने वाला विधि वाक्य होता है।

विधिवाक्य प्रयोजनवान् और अर्थवान् भी होता है। धर्म की परिभाषा करते समय यह स्पष्ट किया गया है कि प्रयोजनवान् अर्थ को ही धर्म कहते हैं अतः विधिवाक्य धर्म का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा सिद्ध हुआ।

'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्' यह विधिवाक्य है। स्वर्ग के साधन भूत अग्निहोत्र होम का विधान इस विधिवाक्य के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से ज्ञात नहीं होता। याग, जिसे हम करते हैं, उसका ज्ञान हमें प्रत्यक्ष प्रमाण से अवश्य होता है, किन्तु अग्निहोत्र याग का स्वर्ग के साधन के रूप में प्रथमतः ज्ञान हमें प्रस्तुत वेद वाक्य से होता है।

यह विधिवाक्य प्रयोजवान् अर्थ भी है क्योंकि इस याग के करने से स्वर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि होती है।

मीमांसाशास्त्र के अन्य ग्रन्थों में विधि के चार भेद बतलाये गए हैं १. उत्पत्ति विधि २. विनियोग विधि ३. अधिकार विधि ४. प्रयोग विधि। मीमांसा परिभाषा में कृष्णयज्वा ने ब्राह्मण वाक्य का भेद करते समय ६ विधियों का उल्लेख किया है।

१. कर्मोत्पत्ति वाक्य
२. गुणवाक्य
३. फलवाक्य
४. कलाय गुण वाक्य
५. सगुण कर्मोत्पत्ति वाक्य
६. सफल कर्मोत्पत्ति वाक्य

इनका बृहद वर्णन आगे ग्रन्थ में किया गया है प्रकारान्तर से अङ्गभूत विधियों का निरूपण करते समय कृष्णयज्वा ने विधियों को तीन प्रकार की बताया हैं।

विधिस्त्रिविधः—अपूर्व विधिः, नियम विधिः, परिसंख्या विधिश्चेति।

इस प्रसंग में इन तीन विधियों का विशद विवेचन अपेक्षित है।

अपूर्व विधि

यो विधिरत्यन्ताप्राप्तमर्थं प्रापयति सः अपूर्व विधिः

जो विधि अत्यन्त अप्राप्त अनिर्दिष्ट, अर्थ का विधान करती है वह अपूर्व विधि है।

अर्थसंग्रहकार ने अपूर्व विधि की निम्न प्रकार से व्याख्या की है—

प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः

दूसरे प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति) से अप्राप्त अर्थ की प्रापक विधि अपूर्व विधि है।

न पूर्वं कथितमिति अपूर्वम्

जैसे—'यजेत स्वर्गकामः' स्वर्ग की कामना से यज्ञ करें। अप्राप्त स्वर्ग रूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए याग का विधान इस विधि वाक्य के द्वारा किया है, अतः यह अपूर्व विधि है।

'ब्रहीन् प्रोक्षति' इस विधि वाक्य के द्वारा व्रीहि के प्रोक्षण का विधान किया गया है। दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में उक्त विधि प्रयुक्त होती है। यदि 'व्रीहीन् प्रोक्षति' यह विधि वाक्य न होता तो व्रीहियों (धान) का प्रोक्षण (जल के द्वारा विशेष प्रकार का सेचन) किसी प्रकार नहीं हो पाता। उक्त विधि अप्राप्त व्रीहि प्रोक्षण का विधान करती है अतः यह अपूर्व विधि है।

नियम विधि

यश्च पक्षे प्राप्तमर्थं नियमयति स नियम विधिः

मीमांसा-परिभाषा

जो विधि पक्ष में प्राप्त अर्थ का नियमन करती हैं, नियम विधि है। किसी विधि में जब नियन्त्रण लग जाता है तब यह नियम विधि कहलाती है।

जैसे—'ब्रहीन् अवहन्ति' इस विधिवाक्य के द्वारा व्रीहि के अवहनन का अर्थात् धान से भूसी निकालने के लिए उसे मूसल से ओखली में कूटने

का विधान किया गया है वैतुष्यीकरण के अर्थात् धान से भूसी निकालने के अनेक साधन उपलब्ध हैं जैसे—अवहनन, नख विदलन (नाखून से धान को भूसी छुड़ाना) सिल पर रगड़कर भूसी निकालना 'मशीन से भूसी अलग करना आदि किन्तु नियम-विधि यह नियमन कर देती है कि व्रीहि का वैतुष्योकरण अवहनन द्वारा ही करना चाहिए अन्य विधि से नहीं अन्य साधन से वैतुष्यीकरण करने पर उससे वह अपूर्व नहीं उत्पन्न होगा जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार नियम विधि किसी विशेष विधि का नियमन करके अन्य विधि का निषेध कर देती है।

अपूर्व विधि और नियम विधि में अन्तर

जिसका विधान नहीं हुआ है उसका विधान कराने वाली विधि अपूर्व विधि है। जबकि नियम विधि के द्वारा अनेक साधनों में किसी बिशिष्ट साधन का नियमन हो जाता है। अपूर्वविधि की यह विशेषता है कि इसके न रहने पर कार्य नहीं हो सकता, जबकि नियम विधि के न रहने पर भी क्रिया सम्पन्न हो सकती है। नियम विधि साधन विशेष का नियमन करती है जैसे—इस प्रसंग में 'व्रीहीन् अवहन्ति' इस वाक्य से यह नियमन हो जाता है कि ओखली और मूसल इस साधन विशेष से ही कार्य सम्पन्न करना चाहिए अन्यथा तद्गत अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होगी, न ही उससे स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

परिसंख्या विधि

जब याग कर्म के संबन्ध से किन्हीं दो विधानों की प्राप्ति होती है, तो परिसंख्या विधि के निर्देश से यह ज्ञात होता है कि उन दोनों विधानों में से किसी एक को करें, दूसरे को न करें। कृष्ण यज्वा ने परिसंख्या विधि की परिभाषा दी है—

"द्वयोः समुच्चित्य प्राप्तावितरनिवृत्तिफलको विधिः परिसंख्या विधिः।" चयन-याग के प्रकरण में यह मन्त्र आया है—

"इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य इत्यश्वाभिधानीमादत्ते।"

इस मन्त्र द्वारा अश्व की रशना (डोरी या लगाम) पकड़ने का विधान है। चयन याग के प्रकरण में वेदिका बनाने के लिए ईंटों की आवश्यकता होती है।

अश्व और गर्दभ दोनों की पीठ पर मिट्टी लायी जा सकती है।

'इमामगृह्भ्णन् रशनामृतस्य इत्यश्वाभिधानीभादत्ते' इस परिसंख्या विधि में अश्वरशना के उल्केख से गर्दभ रशना का ग्रहण करते समय 'इमाम गृभ्णन्' मन्त्र पढ़ने का निषेध हो जाता है।

अर्थसंग्रहकार ने परिसंख्या विधि की परिभाषा दी है--

"उभयोश्च युगपत्प्राप्ताावितर व्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्या विधिः'

परि का अर्थ है वर्जन और संख्या का अर्थ है बुद्धि या ज्ञान। वर्णन-बुद्धि का विधायक वाक्य परिसंख्या विधि है।

"परिशब्दोऽत्र वर्णनार्थः। परिवर्जने (८।१।५) इति पाणिनिस्मृतेः। संख्या बुद्धिः। परिसंख्या विधिः। Karmarkar : The Artha Sauqraha पृष्ठ........।

परिसंख्या विधि का एक अन्य उदाहरण है--

'पाञ्चपञ्चनखाभक्ष्याः' 'पाँच नाखूनों वाले पाँच ही प्राणी भक्ष्य है। यह वाक्य पञ्चपञ्च नख वाले प्राणियों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों के भक्षण का निषेध करता है। अतः परिसंख्या विधि है। पाँच नाखून वाले पाँच प्राणियों का उल्लेख रामायण और मनुस्मृति में किया गया है।

पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः, ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शशकः शल्लकी गोधा **खड्गो** कूर्मोऽथ पञ्चमः॥

रामायण

पञ्चपञ्चनखा भक्ष्या धर्मतः परिकीर्तिताः।
गोधा कूर्मः शशः खड्गः शल्यकश्चेति ते स्मृताः॥

देवस्मृति ।।५।१८

इस विधि को हम अपूर्व विधि नहीं कह सकते क्योंकि पञ्चनखप्राणी का भक्षण सर्वथा अप्राप्त नहीं है। इसे हम नियमविधि भी नहीं कह सकते क्योंकि नियमविधि पक्ष में प्राप्त अर्थ का नियमन करती है। जबकि परिसंख्या विधि दो विषग्रों के एक साथ प्राप्त होने पर दूसरे का निवारण करती है। भाट्टदीपिकाकार ने परिसंख्या की परिभाषा दी है—

'अतएव शब्दतः फलतो वा यस्य शास्त्रस्यान्यनिवृत्तिर्विषयः स परिसंख्याविधिः।'

(१) उस प्रवृत्ति का उद्देश्य या साध्य क्या है?

(२) उस कार्य को सिद्ध करने का साधन या करण क्या है?

'सर्वत्र हि परिसङ्ख्या शब्दादेव कारकाढा श्रुत्या परिसंख्या नियमो वोच्यते।' (तन्त्रवार्तिक, कुमारिल भट्ट)

परिसंख्या के दो भेद

परिसंख्या के दो भेद होते हैं श्रौती परिसंख्या और लाक्षणिकी।

सा च द्विविधा—श्रौती लाक्षणिकी चेति' अर्थसंग्रह

अत्र ह्येवावपन्ति यह श्रौती परिसंख्या है। पवमान स्तोत्र में ही उसका आवाप करते हैं यहाँ एवकार के कथन से अन्य की स्वयमेव व्या-वृत्ति हो जाती है। यहाँ पवमान से अतिरिक्त अन्य स्तोत्र की निवृत्ति का कथन अभिधा से किया गया है अर्थात् 'एव' इस शब्द के द्वारा किया गया है अतः, यह श्रौती परिसंख्या विधि का उदाहरण है।

इसी प्रकार 'सत्यमेव वदेत्' यहाँ एवकार यह बोध कराता है कि 'नानृतं वदेत्' सत्य बोलना चाहिए यहाँ 'ही' शब्द निषेध परक है। यह इस बात का बोध कराता है कि झूठ नहीं वोलना चाहिए। पञ्च पञ्च नखाः भक्ष्याः यह लाक्षणिकी परिसंख्या विधि का उदाहरण है क्योंकि पञ्च पञ्च नख से अतिरिक्त प्राणी का भक्षण नहीं करना चाहिए इसके लिए विधि वाक्य में कोई शब्द नहीं दिया गया है इसका बोध हमें लक्षणा शक्ति से होता है। जिसकी निवृत्ति का बोधन लक्षणा शक्ति से कराया जाता है वह लाक्षणिको है। इसके लिए कोई वाचक पद यहाँ श्रुत नहीं है श्रौती परिसंख्या दोषमुक्त है किन्तु लाक्षणिकी परिसंख्या के तीन दोष होते हैं क्योंकि इसमें वाचक शब्द का अभाव है।

परिसंख्या के तीन दोष

सा च परिसंख्या त्रिदोषा—स्वार्थ परित्यागः परार्थस्वीकारः, प्राप्त-बाधश्चेति। (मीमांसा-परिभाषा) परिसंख्या के तीन दोष हैं, स्वार्थ, परित्याग, परार्थ स्वीकार और प्राप्त बाध। ऐसा भी कहा गया है

श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थप्रकल्पनात्।
प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा॥

श्रुतिहानि, अश्रुतकल्पना तथा प्राप्तबाध ये तीन दोष लाक्षणिकी परिसंख्या विधि के हैं। इन तीनों दोषों में पहला और दूसरा दोष अर्थात् श्रुतहानि और अश्रुत कल्पना शब्दनिष्ठ है तथा तीसरा प्राप्तबाध अर्थनिष्ठ कहा गया है।

इनकी विस्तार से व्याख्या आगे ग्रन्थ में की गई है।

परिसंख्या विधि के आठ दोष

'स चास्टदोष दुष्टः'

इसका विशद विवेचन आगे ग्रन्थ में उपलब्ध है। लेकिन यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि गत्यन्तर न होने के कारण अर्थात् इस सम्बन्ध में अन्य मन्त्रवाक्य न रहने के कारण परिसंख्या विधि स्वीकार कर ली जाती है किन्तु गत्यन्तर के होने पर अर्थात् इस सम्बन्ध में अन्य मन्त्र वाक्य रहने पर परिसंख्या विधि स्वीकार नहीं की जाती।

इति त्रिदोषा परिसंख्या गत्यभावादङ्गीकृता गत्यन्तरे सति सा न युक्ता। एवम—अष्टदोदुष्टविकल्पोऽप्यगतिकोऽङ्गीकृतः।

मीमासा-परिभाषा

भावना

मीमांसा शास्त्र में मीमांसा शब्द का वह साधारण अर्थ नहीं है जो सामान्यतः लोग स्वीकार करते हैं। मीमांसा दर्शन में भावना शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। भू धातु में प्रेरणार्थक णिच तथा ल्युट् प्रत्यय लगने से भावना शब्द की निष्पत्ति होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कृष्णयज्वा ने भावना की परिभाषा दी है—

'भावनात्वं नाम भवितुः प्रजोजकव्यापारत्वम्' उत्पन्न होनेवाली वस्तु के प्रयोजक अर्थात् जनक के व्यापार को भावना कहते हैं। वस्तुतः भावना का अर्थ है व्यापार किन्तु भावना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अन्य पदों का प्रयोग किया गया है। अर्थसंग्रहकार ने भावना का लक्षण किया है—

'भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापार विशेषः।'

भावना उत्पन्न होने वाले फल या क्रिया की उत्पत्ति में सहायक उत्पादयिता (उत्पादक) का विशेष व्यापार है।

भवितृ का अर्थ होता है—उत्पन्न होनेवाला। **भावनानुकूल** का अर्थ होता है-उत्पत्ति के अनुकूल। भावयितुर्व्यापारः का अर्थ होता है-प्रयोजक का व्यापार।

भावना; फल को उत्पन्न कराने के लिए प्रेरक का विशेष प्रकार का व्यापार है जिससे फल की उत्पत्ति में सहायता मिलती है।

लौकिक उदाहरण देकर भावना को स्पष्ट करते है-यज्ञदत्त अपने पुत्र देवदत्त को गाय लाने के लिए आदेश देता है 'गामानय' । यहाँ इस प्रसङ्ग से शाब्दी भावना और आर्थी भावना दोनों स्पष्ट हो जाती है।

प्रथमतः शाब्दी भावना को स्पष्ट करते हैं—यज्ञदत्त यह चाहता है कि गाय लाने की एक निश्चित प्रवृत्ति उसके पुत्र देवदत्त में हो, अतः यज्ञदत यहाँ भावयिता है। देवदत्त की गाय लाने की प्रवृत्ति भवितृ है अर्थात् उत्पन्न होने वाला कार्य रूप फल है। इस कार्य [भवितृ] को उत्पन्न करने के लिए भवनानुकूल भावयिता या प्रयोजक का व्यापार यहाँ भावना है। देवदत्त को एक निश्चिय कार्य कराने के लिए यज्ञदत्त की प्रवृत्ति ही यहाँ भावना है। अर्थात् 'गामानय' यज्ञदत्त के इन शब्दों में निहित संकेत यहाँ भावना है। वह भावना में निहित रहती है, अतः, यह शाब्दी भावना है।

'गामानय' इस वाक्य को दूसरे ढङ्ग से इस प्रकार समझते है। देवदत्त असने पिता के उन शब्दों को सुनकर गाय लाना चाहता है, अतः देवदत्त यहाँ प्रयोक्त कर्ता या भावयिता है। देवदत्त द्वारा गाय लाना यहाँ भवियता या कार्य है तथा देवदत्त द्वारा गाय लाने सम्बन्धी—प्रवृत्ति या मानस व्यापार यहाँ भावना है। यह आर्थी भावना है।

शाब्दी भावना और आर्थी भावना को वैदिक उदाहरण देकर इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—'स्वर्गकामो यजेत' यह वैदिक वाक्य स्वयं भावयिता या प्रयोजक कर्त्ता है। स्वर्गाकांक्षी पुरुष की प्रवृत्ति यहाँ भवितृ या कार्य है तथा वैदिक वाक्य निष्ट अभिप्राय यहाँ भावना है।

उक्त वाक्य आर्थी भावना की दृष्टि से दूसरे ढंग से इस प्रकार समझते हैं। स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति के सन्दर्भ में वाक्य को ऐसे समझा जा सकता हैं, स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष यहाँ भावयिता अर्थात् प्रयोजक कर्त्ता है। स्वर्ग की प्राप्ति भविनृ या भविता हुई। स्वर्ग के लिए किया जाने वाला याग विषयक मानसिक प्रवृत्ति यहाँ भावना है क्योंकि यह प्रवृत्ति हो यहाँ स्वर्गादि की जनक है।

शाब्दी भावना और आर्थी भवना में स्पष्ट भेद समझ लेना चाहिए। शाब्दी भावना में भावयिता प्रेरणा देने वाला दूसरा व्यक्ति या शब्द होता है जबकि आर्थी भावना में भावयिता कर्म, में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति स्वयं होता है। जैसे—'स्वर्गकामो यजेत' इस वेद वाक्य में शाब्दी

भावना में भावयिता स्वयं वेद वाक्य है और आर्थी भावना में भावयिता स्वर्ग की कामना करने वाला पुरुष है।

शाब्दी भावना और आर्थी भावना दोनो मानस व्यापार है। शाब्दी भावना वैदिक वाक्य निष्ठ अभिप्राय हैं जबकि आर्थी भावना पुरुष निष्ठ प्रवृत्ति हैं।

	शाब्दी भावना	आर्थी भावना
भावयिता	वैदिक वाक्य 'स्वर्ग कामो यजेत'	स्वर्गाङ्क्षाक्षी पुरुष
भवितृ	स्वर्गाङ्क्षाक्षी पुरुष की प्रवृत्ति,	स्वर्ग की प्राप्ति,
भावना	वैदिक वाक्य निष्ठ अभिप्राय या संकेत	स्वर्ग कांक्षी पुरुष की प्रवृत्ति

यजेत में 'त' प्रत्यय लगा है। लिङ्गादि प्रत्यय सुनने से प्रेरणा होती है। और न सुनने से प्रेरणा नहीं होती है। जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में प्रेरणा की शक्ति विध्यर्थक लिङ् प्रत्यय में होती है, उसी प्रकार वेद में भी प्रेरणा की शक्ति विध्यर्थक लिङ् प्रत्यय में होती है।

शाब्दी भावना और आर्थी भावना समझने से पूर्व इतना समझ लेना आवश्यक है कि भावना अंशत्रय विशिष्ट होती है। मनुष्य जब किसी कार्य को करता है तब उसकी प्रवृत्ति के विषय में मनुष्य के मन में तीन प्रश्न उठते हैं—

(३) इस साधन को सम्पन्न करने विधि क्या है ?

इन्हीं प्रश्नों को मीमांसक क्रमशः निम्न शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं—

किं भावयेत्—साध्याङ्क्षाक्षा
केन भावयेत्—साधनाकाङ्क्षा
कथं भावयेत्—इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षा

इसका विशद विवेचन आगे आगे ग्रन्थ में शाब्दो-भावना और आर्थी भावना के प्रकरण में किया गया है।

आर्थी भावना—

प्रयोजनेच्छाजनित क्रिया विषय व्यापार आर्थी भावना

—अर्थ संग्रह

प्रयोजन स्वर्गादि की इच्छा से उत्पन्न क्रिया से सम्बद्ध व्यापार आर्थी भावना है।

'सा चार्थभावना किं केन कथमिति अंशत्रयविशिष्टा'

यह आर्थीभावना—किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेत्, इन तीन अंशों से युक्त है। 'स्वर्गकामो यजेत' इस वेद वाक्य को आर्थी भावना की दृष्टि से इस प्रकार समझा जाता है।

१. सर्वप्रथम 'किं भावयेत्' यह साध्याकांक्षा होती है तो इस आकांक्षा की पूर्ति 'स्वर्गं भावयेत्' इस पद से करते हैं—

२. साध्याकांक्षा का बोध हो जाने पर यह आकांक्षा होती है कि किस साधन से स्वर्ग की प्राप्ति करें। ऐसा साधनाकांक्षा होने पर उत्तर देते हैं—'यागेन स्वर्गं भावयेत्' यहाँ स्वर्गरूप साध्य का साधन याग है।

३. अब तीसरी आकांक्षा होती है कि स्वर्गरूप साध्य के साधनभूत याग को कैसे सम्पन्न करें 'कथं भावयेत्' ऐसी कथं भावाकांक्षा होने पर उत्तर देते हैं—आग्न्यन्वाधान और अवहनन आदि के द्वारा अग्नि में समिधा को रखना (अग्न्यन्वाधान) व्रीहि को ओखली में मूसल से कूटकर उसकी भूसी निकालना आदि याग की प्रक्रिया है। इससे दृष्ट फल की प्राप्ति होती है। इससे कथं भावाकांक्षा शान्त होती है। साथ ही याग के सहायक अंगभूत याग प्रयाज, अनुयाज आदि भी कथं भावाकांक्षा की तुष्टि करते हैं, इनमें अदृष्ट फल की प्राप्ति होती है। ये सभी अंगभूत कर्म इतिकर्त्तव्यता का बोध कराते हैं अर्थात् याग को कैसे करना चाहिए इस बात का बोध कराते हैं।

शाब्दी भावना

तत्र पुरुष प्रवृत्यनुकूलो भावार्यतुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना। संग्रह लिङ्गादि का ज्ञान भावना का उत्पादक नहीं अपितु उसके अर्थसंग्रह साध्य का निवर्तक है।

व्यक्ति की प्रवृत्ति का जनक, प्रयोजक का व्यापार विशेष शाब्दी भावना है।

मीमांसा परिभाषा में लिखा है—'स एव लिङ्प्रत्ययो लिङ्त्वावच्छेदेन शब्दभावानां प्रेरणाख्यामभिधत्ते।'

शाब्दी भावना का अर्थ है शब्द में रहनेवाला लिङ्त्वावच्छिन्न लिङ् प्रत्यय। लिङ्त्व धर्म से विशिष्ट लिङ् ही अपनी प्रेरणारूपी शक्ति से पुरुष को प्रवृत्त करता है।

शाब्दी भावना भी अंशत्रयविशिष्ट होती है।

१. 'स्वर्गकामो यजेत्' इस वेदवाक्य में यह आकांक्षा होती है कि इस भावना का साध्य क्या है ? तो उत्तर देते हैं कि अंशत्रय से युक्त आर्थी-भावना शाब्दी भावना का साध्य है।

२. साध्याकांक्षा शान्त होने पर साधनाकांक्षा होती है कि स्वर्गाकांक्षी पुरुष की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने का साधन क्या है ? तो उत्तर देते हैं कि 'स्वर्गकामो यजेत्'।

३. साधनाकांक्षा के शान्त होने पर तीसरी आकांक्षा होती है—कथं भावयेत् ? ऐसी कथं भावाकांक्षा होने पर उत्तर देते हैं-अर्थवाद के द्वारा प्रतिपाद्य प्राशस्त्यादि ज्ञान।

'यजेत' इस लिङादि के श्रवण से स्वर्ग को चाहने वाले व्यक्ति में निश्चित प्रवृत्ति होती है किन्तु जब अर्थवाद से याग कर्म की विशेष प्रशंसा हो जाती है तब लिङ्गादि ज्ञान रूप साधन और अधिक प्रशस्त हो जाता है।

मीमांसा न्याय प्रकाश में शाब्दी भावना का लक्षण किया गया है—

'आर्थीभावना भाव्यिका, लिङ्गादिज्ञानकरणिका प्राशस्त्यज्ञानादि इतिकर्त्तव्यताका शाब्दी भावना।' अर्थात् शाब्दी भावना का साध्य आर्थी भावना है। इसका साधन, लिङ्गादि ज्ञान है तथा इसकी इति कर्त्तव्यता प्राशस्त्यादि ज्ञान है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि शाब्दी भावना ज्ञापक कारण है, उत्पादक कारण नहीं। कारण दो प्रकार का होता है—ज्ञापक कारण और उत्पादक कारण। दण्डकुलालादि घट के उत्पादक कारण हैं क्योंकि ये नया घड़ा उत्पन्न करते हैं। किन्तु अंधेरे में दीप लाने से जो घट दिखाई पड़ता है, वह दीप घट का ज्ञापक कारण है, उत्पादक नहीं। दीप घट को उत्पन्न नहीं करता अपितु उत्पन्न घट का ज्ञापन करता है। इसी प्रकार अध्ययन प्रक्रिया के द्वारा अवगत लिङ्गादि का ज्ञापककरणत्वेन अन्वय किया गया है।

शाब्दी भावना और आर्थी भावना का अन्तर निम्न ढंग से अधिक स्पष्ट हो जाता है—

भावना	किं भावयेत्	केन भावयेत्	कथं भावयेत्
	साध्य	साधन	इतिकर्त्तव्यता
शाब्दी	अंशत्रयोपेत आर्थी भावना	लिङ्गादि का ज्ञान	अर्थवाद से ज्ञेय प्राशस्त्यादि
आर्थी	स्वर्गादिफल	यागादिकर्म	प्रयाजादि अङ्ग-भूत कर्म

शाब्दी भावना दूसरे व्यक्ति में किसी कार्य की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है दूसरे के मन में प्रेरणा जगाती है, जबकि आर्थी भावना व्यक्ति के अन्दर स्वयं कार्य करने की प्रवृत्ति है। शाब्दी भावना कारण है और आर्थी भावना शाब्दी भावना से उत्पन्न कार्य है। आर्थी भावना शाब्दी भावना का साध्य है। देवदत्त के अन्दर गाय लाने की प्रेरणा यज्ञदत्त का 'गामानय' यह वाक्य करता है अतः शाब्दी भावना कारण है और आर्थी भावना कार्य।

विषयानुक्रमणिका

प्रथमं प्रकरणम्

द्वितीयं प्रकरणम्

•

॥ श्रीः ॥

मीमांसापरिभाषा

अथ प्रथमं प्रकरणम्

सूर्यनारायणं वन्दे देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्।
गुरूनधिगतार्थांश्च निरन्तरमहं भजे ॥ १ ॥
बालानां शास्त्रसिद्धार्थलेशबोधाय धीमताम्।
मीमांसापरिभाषेयं क्रियते कृष्णयज्वना ॥ २ ॥

भगवान सूर्यनारायण की, त्रिपुरसुन्दरी देवी को (कुल की अधिष्ठातृ देवी को) सभी शास्त्रों के अर्थ को जानने वाले गुरुजनों को मैं निरन्तर नमस्कार करता हूँ। बुद्धिमान् (मीमांसा-शास्त्र के जिज्ञासु) बालकों को मीमांसाशास्त्र का संक्षेप में अर्थ ज्ञान कराने के लिए कृष्णयज्वा के द्वारा इस मीमांसापरिभाषा नामक ग्रन्थ की रचना की जा रही है।

धर्माधर्मनिरूपणम्

इह खलु महर्षिणा जैमिनिना द्वादशलक्षण्यां पूर्वमीमांसायां धर्माधर्मावेवानुष्ठानोपयोगितया विचारितौ। तत्र वेदबोधितेष्टसाधनताको धर्मः—यथा यागादिः। वेदबोधितानिष्टसाधनताकोऽधर्मः—यथा कलञ्जभक्षणादिः। तयोश्च वेदः, स्मृतिः, आचारश्च प्रमाणम्। तत्र वेदः स्वतन्त्रं प्रमाणम्, इतरौ तु वेदमूलकतया।

वेदद्वैविध्यम्

तत्र वेदो द्विविधः—मन्त्ररूपो ब्राह्मणरूपश्चेति। तत्र प्रयोगकालीनार्थस्मरणहेतुतया मन्त्राणामुपयोग इति वक्ष्यते। प्रयोगोऽनुष्ठानं तत्कालीनेत्यर्थः। विधायकं वाक्यं ब्राह्मणम्। तच्छेषोऽर्थवादः। तस्य विधेयप्राशस्त्यप्रतीतिजननद्वारा विधिवाक्यैकवाक्यतया प्रामाण्यमिति वक्ष्यते।

महर्षि जैमिनि ने अनुष्ठान की उपयोगिता की दृष्टि से १२ अध्याय

वाली[1] पूर्वमीमांसा में धर्माधर्म का विचार किया है। वेद में जिसको इष्ट का साधन बताया गया है, वह धर्म हैं अर्थात् जिससे इष्ट की प्राप्ति होगी, उसका ज्ञान कराने वाला धर्म होता है, जैसे यागादि। वेद का वह वाक्य जो अनिष्ट की साधनता का ज्ञान कराता है उसे अधर्म कहते हैं जैसे कलंजभक्षणादि। धर्म और अधर्म के विषय में वेद स्मृति और आचार को प्रमाण माना जाता है वेद स्वतन्त्र प्रमाण है तथा स्मृति और आचारादि वेद-मूलक होने से प्रामाणिक हैं।[2]

वेद दो प्रकार के होते हैं-मन्त्ररूप और ब्राह्मणरूप। यज्ञ का अनुष्ठान करते समय जो अर्थ का स्मरण कराता है, वह मन्त्र-वाक्य हैं। विधायक वाक्य को ब्राह्मण वाक्य कहते हैं। तत्कालीन यज्ञ-सम्बन्धी इति कर्त्तव्यता का जो ज्ञान कराता है, वह ब्राह्मण-वाक्य है। उसका अर्थात् ब्राह्मण का शेष या अङ्ग अर्थवाद कहलाता हैं। विधिवाक्य जिसका विधान करता है, अर्थवाद वाक्य उसी की प्रशंसा करता है। अर्थवाद वाक्य विधेय वस्तु की प्रशंसा करता हुआ विधि-वाक्य के साथ एक वाक्यता रखता है। अतः, इसे भी प्रामाणिक मानते हैं अर्थात् विधि वाक्य के साथ एक वाक्यता स्थापित करने का तात्पर्य है--'कही हुई बात को प्रशंसा के द्वारा पुष्पित करना।

व्याख्या—कृष्णयज्वा ने वेद को दो भागों में बाँटा है। मन्त्र और ब्राह्मण। ब्राह्मण के अंग के रूप में अर्थवाद को स्वीकार किया है। पूर्व मीमांसा सूत्र के भाष्य में शबर स्वामी ने कहा है कि मन्त्र वह है, जो यज्ञ की विधि के समय यजमान को उसके अर्थ का या उसके स्वरूप का स्मरण दिलाता है। यज्ञ करते समय मन्त्र उच्चारण की दृष्टि से तो उपयोगी है ही, साथ में वह यह भी स्मरण दिलाता है कि क्या किया जाना चाहिए और क्या किया जा रहा है। मन्त्रों को तीन शीर्षकों में बाँटा गया है ऋक्, यजुः एवं साम[3]।

---

१. १२ अध्याय--१. प्रमाण २. भेद ३. शेष ४. प्रयुक्ति ५. क्रम ६. अधिकार ७. सामान्यातिदेश ८. विशेषातिदेश ९. ऊह १०. बाध ११. तंत्र. १२. प्रसंग।

२. धर्म और अधर्म के विषय में विशद विवेचन भूमिका में द्रष्टव्य है।

३. प्रत्येक वेद के साथ ब्राह्मणों का समायोजन होता है। जैसे ऋग्वेद के साथ ऐतरेय एवं कौषीतकि। कृष्णयजुर्वेद का तैत्तिरीय-ब्राह्मण के साथ, शुक्ल-यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण के साथ सामवेद का ताण्ड्य-ब्राह्मण के साथ।

ब्राह्मण वाक्य वे है जो इस अर्थ का बोध कराते है कि याग को कैसे करना चाहिए। धार्मिक कृत्यों एवं पुरोहितों के विषय में जानकारी देने के लिए ब्राह्मण को प्रमुख उपकरण माना जाता है। इसमें धार्मिक कृत्यों एवं यज्ञों को बताने के लिए बहुत सी कथा वार्तायें तथा किंवदन्तियाँ आदि पायी जाती हैं। उनमें देवों तथा असुरों के युद्धों का उल्लेख है। उनके विषयों को दो कोटि में विभाजित करते है—१. विधियाँ—ऐसे वचन जो आदेश युक्त और उपदेशात्मक हैं २. अर्थवाद—व्याख्यात्मक वचन।

अर्थवाद वाक्य को, ब्राह्मण वाक्य का अंग माना है। अर्थवाद वाक्य विधायक वाक्य का अंग होता है तथा प्रशंसा या निन्दा के द्वारा विधायक वाक्य को पुष्पित करता हैं।

वेद को तीन भागों में भी बाँटा गया है। यथा-विधि, अर्थवाद एवं मन्त्र। श्लोक वार्तिक में इस त्रिधा विभाजन का उल्लेख मिलता है। अर्थसंग्रहकार ने वेद को ५ भागों में बाँटा है—विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय एवं प्रतिषेध।

ब्राह्मणवाक्यभेदाः

ब्राह्मणवाक्यं चानेकविधम्—कर्मोत्पत्तिवाक्यं, गुणवाक्यं, फलवाक्यं, फलाय गुणवाक्यं, सगुणकर्मोत्पत्तिवाक्यमित्यादिभेदात्।

ब्राह्मण वाक्यों के भेद

ब्राह्मण वाक्य अनेक प्रकार के होते है। कर्मोत्पत्तिवाक्य, गुणवाक्य, फलवाक्य, फलायगुण वाक्य, सगुण कर्मोत्पत्ति वाक्य आदि।

कर्मोत्पत्तिवाक्यम्

तत्र येन वाक्येन-'इदं कर्म कर्तव्य'मिति बोध्यते तत् कर्मोत्पत्तिवाक्यम्—यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति। अत्राग्निहोत्रहोमः कर्तव्यतया विधीयत इति कर्मोत्पत्तिवाक्यमिदम्।

कर्मोत्पत्तिवाक्य

जिस वाक्य से 'यह कार्य करना चाहिए' ऐसा ज्ञान होता है, वह कर्मोत्पत्ति वाक्य है। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' अग्निहोत्र हवन करता है। यहाँ इस वाक्य से अग्निहोत्र होम का कर्त्तव्य रुप से विधान किया गया है। अतः, यह कर्मोत्पत्तिवाक्य है अर्थात् जिस वाक्य से कर्म की उत्पत्ति

होती है या जिस वाक्य से कार्य को करने के लिए कहा जाय वह कर्मोत्पत्ति वाक्य है।

गुणवाक्यम्

विहिते कर्मणि तदङ्गतया द्रव्यदेवतादिविधायकं वाक्यं गुणवाक्यम्—यथा 'दध्ना जुहुयात्' इति। अत्र होममुद्दिश्याङ्गतया दधि विधीयत इति गुणवाक्यमिदम्। कर्माङ्गतया विहितत्वमेव दध्यादेर्गुणत्वम्। अत्र होमस्योद्देश्यत्वं नाम मानान्तरप्राप्तत्वे सति विधेयान्वयितया निर्देश्यत्वम्। तस्यैव मानान्तरप्राप्तस्य पुनः कथ्यमानरूपत्वमनुवाद्यत्वम् दध्यादिगुणान्वयितया प्राधान्यं च। दध्यादेर्मानान्तराप्राप्तत्वादत्रैव विधेयत्वम्, होमसाधनत्वाच्च होमापेक्षया गुणत्वम्, पुरुषेणानुष्ठीयमानत्वादुपादेयत्वं चेति। अत्र मानान्तरप्राप्तत्वं मानान्तरज्ञातत्वम्, अप्राप्तत्वं चाज्ञातत्वमिति बोध्यम्।

गुणवाक्य

कर्म का विधान या निर्देश हो जाने पर उस कर्म के अंगभूत द्रव्य, देवतादि का विधान जिस वाक्य से होता है, उसको गुणवाक्य कहते हैं। जैसे–'दध्ना जुहुयात्' इस वाक्य में होम को उद्देश्य करके दधि का विधान किया गया है, अतः, यह गुण वाक्य है। यज्ञ कर्म के अङ्ग के रूप में दधि का विधान किया गया है, इसलिए दधि गुण है। यहाँ होम उद्देश्य है क्योंकि 'अग्नि होत्रं जुहोति' इस प्रमाणान्तर वाक्य से अग्निहोत्रहोम की प्राप्ति होती है। 'दध्ना जुहुयात्' इस पद में होम की प्राप्ति नहीं होती अतः, होम की प्राप्ति यहाँ प्रमाणान्तर से होती है। यहाँ विधेय दधि के साथ अन्वित होने के कारण होम का पुनः निर्देश किया गया है। जिसका कथन पहले हो चुका हो और उसका पुनः कथन किया जा रहा हो, उसे अनुवाद्य कहते हैं। होम में दधि का गुण रूप से अन्वय किया गया है अर्थात् दधि को गुण माना गया है अतः, होम प्रधान है। चूंकि दधि आदि की प्राप्ति किसी अन्य वाक्य से नहीं होती 'दध्ना जुहुयात्' इसी वाक्य से होती है अतः दधि यहाँ विधेय है, तथा होम का साधन होने से दधि गुण है तथा पुरुष दधि से अनुष्ठान करता है, अतः, दधि उपादेय है। यहाँ मानान्तर प्राप्तत्व का अर्थ है, अन्य प्रमाण से ज्ञात होना तथा मानान्तराप्राप्तत्व का अर्थ होता है मानान्तर से ज्ञात न होना।

व्याख्या—जो वाक्य हवन करने की विशेष सामग्री या साधन का

ज्ञान कराता है वह गुण वाक्य है जैसे 'दध्ना जुहुयात्' यह वाक्य 'दही से हवन करे' ऐसा विधान करता है। दही इस साधन का या गुण का विधान करता है इसलिए गुण वाक्य है। गुण का अर्थ है अङ्गभूत द्रव्य या सहायक द्रव्य।

यहाँ दधि में तीन धर्म रहते हैं ऐसा माना है–विधेयत्व, गुणत्व और उपादेयत्व।

फलवाक्यम्

उत्पन्नस्य कर्मणः फलाकाङ्क्षायां फलसम्बन्धबोधको विधिः फलविधिः—यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति। अत्र 'यः स्वर्गं कामयते स तत्साधनत्वेनाग्निहोत्रनामकं होमं भावयेत् कुर्यात्'-इति अग्निहोत्रवाक्योत्पन्नस्य कर्मणः फलसंबन्धो बोध्यत इति फलवाक्यमिदम्।

फल वाक्य

उत्पन्न कर्म के फल की इच्छा से जो विधि की जाय तथा फल के सम्बन्ध का जो बोध कराती है, उसे फल वाक्य या फलविधि कहते हैं। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इस वाक्य में यह कहा गया है कि जो स्वर्ग की कामना करता है उसको स्वर्ग प्राप्ति के साधनभूत अग्निहोत्र नामक होम को करना चाहिए। इस प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः 'इस वाक्य में उत्पन्न या विहित होम कर्म का स्वर्ग रूप फल के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है अतः, यह फलवाक्य है।

व्याख्या—यहाँ उत्पन्न का अर्थ है विहित तथा उत्पन्न कर्म का अर्थ है जिसका विधान किया गया है। जो वाक्य कर्म के विधान के साथ-साथ कर्म के फल का भी बोध कराता हैं अर्थात् विहित कर्म का फल के साथ सम्बन्ध बतलाता है, वह फलवाक्य है। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' स्वर्गकामः 'यह वाक्य अग्निहोत्र होम के साथ-साथ उसके द्वारा प्राप्त फल स्वर्ग का भी ज्ञान कराता है, अतः, यह फलवाक्य है।

फलाय गुणवाक्यम्

प्राप्तं कर्माश्रित्य फलाय गुणविधौ फलाय गुणवाक्यम्। यथा—'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इति। अग्निहोत्रवाक्योत्पन्नं होममाश्रित्येन्द्रियफलाय दधिरूपो गुणो विधीयते—'होमाश्रितेन दध्ना इन्द्रियरूपं फलं

भावयेत्' इति। होमाश्रितेन होमकारकीभूतेनेत्यर्थः। अयमेव गुणफल-विधिः, गुणकामविधिरिति चोच्यते।

फलाय गुणवाक्य

प्राप्त शब्द का अर्थ यहाँ विहित है। प्राप्त कर्म का आश्रय करके फल की प्राप्ति के लिए जिस वाक्य में गुण या किसी साधन विशेष का कथन किया जाता है उसे फलाय गुणवाक्य कहते हैं। जैसे 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इति यहाँ अग्निहोत्र होम का विधान हो चुका है पुनः यहाँ यह बतलाते है कि यदि होम के द्वारा कोई इन्द्रिय-शक्ति प्राप्त करना चाहता है तो दधि से होम करे। यहाँ दधिरूप गुण या साधन का विधान किया गया है। होमाश्रित दधि के द्वारा इन्द्रिय रूप फल की प्राप्ति हो 'ऐसा अर्थ हुआ। होमाश्रित का अर्थ होता है—'होम कारकीभूत' अर्थात् होम का आश्रय लेकर दधि का प्रयोग किया गया है। होम मे जो करण बनता है, होम का जो साधन है (दधि)। इस फलाय गुण वाक्य को ही गुणफल विधि या गुणकामविधि कहते हैं।

व्याख्या—कर्म के विधान के साथ-साथ विशेष फल की इच्छा से किसी विशेष साधन या गुण का जिस वाक्य में उल्लेख होता है, उसे फलाय गुणवाक्य कहते हैं। जैसे 'दध्नेन्द्रियकामस्थ.........इस वाक्य में इन्द्रिय शक्ति रूप विशेष फल की प्राप्ति के लिए दधि रूप विशेष सामग्री या साधन से होम का विधान किया गया है।

सगुण कर्मोत्पत्तिवाक्यम्

द्रव्यदेवतादिगुणविशिष्टकर्मविधायकं वाक्यं सगुणकर्मोत्पत्तिवाक्यम्—यथा-'सोमेन यजेत' इति। अत्र सोमलताविशिष्टो यागो विधीयते। विशिष्ट विधावपि विशेषणस्यार्थाद्विधिः।

सगुण कर्मोत्पत्ति वाक्य

जो वाक्य द्रव्यदेवतादि गुणकर्म का विधान करता है उसे सगुण-कर्मोत्पत्ति वाक्य कहते हैं—'सोमेन यजेत' यहाँ सोमलता विशिष्ट याग का विधान किया गया है। इस विशिष्ट विधि में सोम विशेषण से युक्त है, यह उत्पत्ति विधि भी है।

व्याख्या—जब एक ही वाक्य में गुण और कर्म दोनों का कथन होता है तब उसे सगुणकर्मोत्पत्तिवाक्य कहते हैं। जैसे 'सोमेन यजेत' इस

वाक्य में 'सोम' शब्द से सोमलता रूप गुण का भी बोध होता है और सोभयाग रूप कर्म का भी बोध होता है। अतः, यह सगुणकर्मौत्पत्ति वाक्य है।

'सोमेन यजेत' का यहाँ दो तरह से अर्थ करते हैं। 'सोमेन यागं भावयेत्' और 'यागेन इष्टं भवयेत्'। इस प्रकार इस प्रसंग में याग में द्वितीया विर्भक्ति भी लगाते हैं और तृतीया विभक्ति भी लगाते हैं। जब याग्र में द्वितीया विभक्ति लगाते हैं, तब उसका अर्थ होता है सोमलता के द्वारा याग करना चाहिए। तब याग में बिधेयत्व, उपादेयत्व और गुणत्व ये तीनों विशेषता आ जाती है तथा याग में जब तृतीया विभक्ति लगाते हैं तब उसका अर्थ होता है, याग के द्वारा स्वर्ग्र रूप फल को प्राप्त करें इस अर्थ में याग में उद्देश्यत्व, अनुवाद्यत्व और प्राधान्य ये तीन धर्म आ जाते हैं। एक ही वाक्य में याग को विधेय भी माना है और उद्देश्य भी माना है। एक ही वाक्य में विरुद्ध त्रिकद्वयापत्ति करने से यहाँ वाक्य दोष होगा।

लेकित मीमांसक इस दोष का निवारण निभ्न प्रकार से करते हैं--

सोम में मतुप् प्रत्यथ लगाकर 'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्' ऐसा कह देने से एक ही वाक्य में 'सोम' शब्द में लक्षणा के द्वारा सोमलता को कल्पना कर लेने से वाक्यगत दोष नहीं आता। यदि यहाँ कोई यह शंका करता है कि सोम पद की लक्षणा 'सोम लता' में की गई है तो वह भी पदगत दोष है तो इसके उत्तर में मीमांसक कहते हैं कि वाक्य गत दोष की अपेक्षा पदगत दोष स्वल्प है। अतः, फलमुखगौरव होने पर भी वह त्याज्य नहीं है।

सफलकर्मोत्पत्तिवाक्यम्

क्वचित्कर्मोत्पत्तिवाक्यमेव फलसम्बन्धबोधकमपि भवति। यथा— 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इति। अत्रोद्भिन्नामको यागो वाक्यान्तरा-विहित एव पशुकामस्य पशुफलाय विधीयत इत्येकमेवेदं वाक्यं फलसाधन-यागविधायकम्।

सफल कर्मोत्पत्ति याग

कहीं कहीं कर्मोत्पत्ति वाक्य ही फलसंबंधबोधक भी होता है। जैसे— 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यहाँ पर उद्भिद् नामक याग वाक्यन्तर सेविहित

नहीं है। पशुकामना रूप फल की प्राप्ति का विधान भी वाक्यान्तर से नहीं किया गया है। यहाँ एक ही वाक्य फल तया तथा फल के साधनभूत याग का विधान करता हैं।

व्याख्या—जहाँ एक ही वाक्य में फल का भी विधान होता है और कर्म का भी अतः, उसे सफलकर्मोत्पत्ति वाक्य कहते हैं अर्थात् फलसहित कर्म का कथन करनेवाला वाक्य सफलकर्मोत्पत्तिवाक्य कहलाता है जैसे 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' पशु की कामना करने वाले को उद्भिद् नामक याग करना चाहिए, यहाँ फलरूप पशु और उसकी प्राप्ति के साधभूत उद्भिद याग का एक ही वाक्य में कथन किया गया है, किसी अन्य में कथन नहीं किया गया है, अतः यह सफलकर्मोत्पत्ति वाक्य है।

प्रयोगविधिः

प्रधानविधिरेवाङ्गविधिभिरेकवाक्यतया महावाक्यतामापन्नः सन् सर्वाङ्गविशिष्टप्रधानप्रयोगविधायकत्वात् प्रयोगविधिरित्युच्यते। यथा—'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति। अत्र 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्' इत्यर्थः प्रतीयते। भावयेत् उत्पादयेदिति यावत्। अत्र 'कथमनेन होमेन स्वर्गं कुर्यात्' इति कथंभावाकाङ्क्षा जायते; यथा 'कुठारेण द्वैधीभावं कुर्यात्' इत्युक्ते भवत्याकाङ्क्षा 'कथमनेन द्वैधीभावं कुर्यात्' इति। तत्रोद्यमननिपातनादिसहायेनेति गम्यते, तद्वदत्रापि 'अग्निं प्रणयति', 'अग्निषु समिध आदधाति' इत्याद्यङ्गविधिविहितप्रणयनसमिदाधानायतनशोधनादिकाङ्गकलापजनितोपकारसहितेनाऽग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं कुर्यादिति प्रकरणकल्पितेन होमवाक्येन स्वर्गाय साङ्गाग्निहोत्रप्रयोगो विधीयत इत्येतादृशः प्रयोगविधिः। अङ्गजातमेवेत्थंभाव इति, इतिकर्तव्यता इति चोच्यते। अत्राग्निहोत्रहोमः प्रधानं, प्रणयनादिकं सर्वमङ्गम्।

प्रयोग-विधि

जब प्रधान विधि अङ्ग विधि के साथ एक वाक्य होकर महावाक्य बनाती है तब वह सर्वाङ्गविधि हो जाती है तथा यज्ञ कर्म में उसका प्रधान ढंग से प्रयोग या विधान किया जाता है अतः उसे प्रयोगविधि कहते हैं। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इसका यह अर्थ है कि अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की प्राप्ति करें, भावना करे या उत्पत्ति करें। इस प्रकार कि भावाकांक्षा होती है, अर्थात् 'किं भावयेत्' ऐसी आकांक्षा होने

पर 'स्वर्गं भावयेत्' यह उत्तर देते है। 'किं भावाकांक्षा' के पूर्ण होने पर 'केन भावाकांक्षा' होती है अर्थात् 'केन स्वर्गं भावयेत्' ऐसी आकांक्षा होती है तो उत्तर देते हैं कि 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्' अग्निहोत्र होम यहाँ स्वर्ग प्राप्ति का साधन बनता है। तत्पश्चात् 'कथं भावाकांक्षा' होती है कि कैसे होम से स्वर्ग की प्राप्ति करे ? जैसे लोक व्यवहार में 'कुठारेण द्वैधीभावं कुर्यात्' कुल्हाड़ी से लकड़ी काटना चाहिए' ऐसा कहने पर यह आकांक्षा होती है कि कुल्हाड़ी से लकड़ी काटने का कार्य कैसे सम्पन्न करें ? तो उत्तर देते हैं कि उद्यमन और निपातन की सहायता से लकड़ी काटें अर्थात् एक बार कुल्हाड़ी को 'ऊपर उठाते हैं फिर नीचे गिराते हैं और तब काटने की क्रिया सम्पन्न होती है। इस प्रकार यहाँ 'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की प्राप्ति करें' इस प्रसंग में अग्निहोत्र होम सम्पन्न करने के लिए 'अग्नि प्रणयति' 'अग्निषु समिध आदधाति' इत्यादि अङ्गविधियाँ सहायक होती है। अग्नि प्रणयन, समिधाधान, आयतन-शोधन इत्यादि सहकारि अङ्गो की सहायता से अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की प्राप्ति करे। अर्थात् गार्हपत्य अग्नि को आह्वनीय अग्नि के स्थान पर लाना यह अग्नि प्रणयन की क्रिया है तथा प्रज्जवलित अग्नि में समिधाओं को रखना यह समिधाधान की क्रिया है तथा जिस स्थान पर अग्नि को रखना है उस स्थान की सफाई करना आयतन—शोधन की क्रिया है। इन तीनों अङ्ग विधियों की सहायता से अग्निहोत्र होम के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति करे' यह महावाक्य है। इस प्रकार इस महावाक्य के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति के लिए अङ्ग सहित अग्निहोत्र होम के प्रयोग का विधान किया गया गया है अतः इसे प्रयोग विधि कहेंगे। प्रणयन, समिधाधान और आयतन-शोधनादि अङ्गो को ही इत्थं भाव या इतिकर्त्तव्यता या सहायक कारण कहते हैं। यहाँ पर अग्निहोत्र होम प्रधान है और प्रणयनादि विधियाँ अङ्ग है।

व्याख्या—प्रधानकर्म के विधान के साथ-साथ जब उसके सहायक या अङ्गकर्म का भी विधान होता है तो उसको प्रयोगविधि कहते हैं। यहाँ अग्निहोत्र होम प्रधान कर्म है किन्तु उसके साथ-साथ यहाँ उसके अङ्गभूत सहायक प्रणयनादि विधियों का मी उल्लेख किया गया है अतः यह, प्रयोगबिधि है !

अर्थसंग्रहकार ने प्रयोगविधि की परिभाषा की है—

'प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः । स चाङ्गवाक्यैकवाक्यतापन्नः प्रधानविधिरेव' ।

प्रयोग कर्म को शीघ्र सम्पादित करने की ज्ञापक विधि प्रयोगविधि होती है। अङ्ग वाक्य के साथ जब प्रधानविधि एकवाक्यता को प्राप्त करती है तब वह प्रयोगविधि कहलाती है। भाट्ट दीपिका में भी इसका उल्लेख है—

अङ्गवाक्यानि प्रधानवाक्यं चैकीकृत्य एतद् कर्मं कृत्वा एतद् कर्मं कृत्वा एतदिति प्रयाजादिभिः उपकृत्य अङ्गान्तरमपि कृत्वा दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत 'इति अङ्गप्रधानैकवाक्यतया महावाक्यं कल्पयेत तदेव प्रयोगविधि शब्देनव्यपदिश्यते ।'

जब अङ्ग वाक्य प्रधान वाक्य के साथ एक होकर महावाक्य बनाकर किसी प्रयोग का या कर्मविशेष का विधान करते हैं तो उसे प्रयोगविधि कहते हैं। जैसे दर्शपूर्णमासादि प्रधानवाक्य और प्रयाजादि अङ्गवाक्य एक साथ मिलकर महावाक्य बनाकर याग विशेष का विधान करते हैं तो उसे प्रयोगविधि कहते हैं। अर्थसंग्रहकार ने प्रयोगविधि की एक अन्य परिभाषा की है 'अगानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्' प्रयोगविधि वह है जो प्रमुख कर्म में भिन्न-भिन्न अंग कर्मों के क्रम का बोध कराती है।

मीमांसा शास्त्र के अन्य ग्रन्थों में विधि के चार भेद बतलाये गए हैं (१) उत्पत्ति विधि (२) विनियोग विधि (३) अधिकार विधि (४) प्रयोग विधि। कृष्णयज्व ने अपने इस ग्रन्थ में ब्राह्मण वाक्य के भेद के प्रसंग में छः विधियाँ बतलायी हैं १. कर्मोत्पत्ति वाक्य २. गुण वाक्य ३. फल वाक्य ४. फलाय गुण वाक्य ५. सगुणकर्मोत्पत्ति वाक्य और आदि पद से छठवाँ सफल कर्मोत्पत्ति वाक्य। किन्तु ध्यान दिया जाय तो कर्मोत्पत्तिवाक्य और सगुण कर्मोत्पत्ति वाक्य इन दोनों वाक्यों का उत्पत्तिविधि में समावेश हो जाता है। इसके साथ ही सफलकर्मोत्पत्तिवाक्य का समावेश भी उत्पत्ति वाक्य में करते हैं। गुण वाक्य, फलवाक्य तथा फलाय गुण वाक्य इन तीनों वाक्यों का अन्तर्भाव विनियोग विधि एवं अधिकार विधि में हो जाता है। प्रयोग विधि को दोनों मानते हैं।

अपूर्वसाधनम्

नन्विदमनुपपन्नं, आशुतरविनाशिनां कर्मणां कालान्तरभाविस्वर्गादिदिफलसाधनत्वानुपपत्तेरिति चेत्। मैवम्; विहितनिषिद्धकर्मणां तत्तद्वाक्यैस्तत्तत्फलसाधनत्वेऽवगते आशुतरविनाशिनां कर्मणां कालान्तरभाविफलसाधनत्वोपपत्त्यर्थमन्तरा पुण्यपापरूपमपूर्वं कल्प्यते। ततश्च यागादेरपूर्वद्वारा स्वर्गसाधनत्वं, न साक्षात्। तदेव फलापूर्वम्। तत्करणत्वं च प्राच्योदीच्याङ्गविशिष्टस्य प्रधानस्य भवति, न प्रधानमात्रस्य। प्रधानमात्रादेव फलापूर्वजनने फलस्यापि तत एव सिद्धेरङ्गानामानर्थक्यापत्तेः।

अपूर्व की सिद्धि[1]

पूर्वपक्ष की शंका उठा कर उत्तर पक्ष द्वारा उसका समाधान करके अपूर्व की सिद्धि की गयी है। 'अग्निहोत्र होम करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है 'ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्म करने के बाद ही शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और स्वर्गादि रूप फल तुरन्त नहीं मिलता, बहुत दिनों बाद मिलता है अर्थात् अभाव से भाव की उत्पत्ति कैसे होगी ? कर्म व्यक्ति वर्तमान में करता है और उसका फल दूर भविष्य में मिलता है। कर्म भविष्य में रहता ही नहीं है तब फल की प्राप्ति कैसे होगी। ऐसी पूर्वपक्ष की शंका उठाकर उसका समाधान निम्न प्रकार से करते हैं।

आशुतरविनाशी कर्म के द्वारा कालान्तरभावी स्वर्गादि की प्राप्ति नहीं होती है ऐसी बात नहीं है। जिन वेद वाक्यों में विहित कर्म और निषिद्ध कर्मो विधान किया गया है, वे वाक्य उन फलों के साधन भी है ऐसा ज्ञान होने जाने पर, शीघ्र नष्ट होने वाले कर्मो का कालान्तरभावी (बाद में मिलने वाले) फल स्वर्गादि के साथ परस्पर साध्यसाधन संबंध बनाने के लिए बीच में पाप और पुण्यरूप अपूर्व की कल्पना करते हैं अर्थात् जब कर्म नष्ट हो जाता है तब उससे एक अपूर्व की उत्पत्ति होती है जो अतीन्द्रिय और अनश्वर है। अतः यागादि कर्म के नष्ट हो जाने पर भी उनका अपूर्व सुरक्षित रहता है और कालान्तरभावी स्वर्ग का कारण बनता है। इस प्रकार यागादि कर्म साक्षात् स्वर्ग के साधन न होकर परम्परया अपूर्व के माध्यम से स्वर्ग का कारण बनते हैं। इसी को फलापूर्व भी कहते हैं। फलापूर्व का कारण केवल प्रधान याग ही नहीं है अपितु

---

१. अपूर्व के विषम में विशेष व्याख्या भूमिका में द्रष्टव्य।

प्राच्य और उदीच्य अङ्ग विशिष्ट प्रधान याग फलापूर्व का करण बनता है।[1] केवल प्रधान को ही फलापूर्व की उत्पत्ति का कारण मान लेंगे तो प्रधान के सभी अङ्ग निरर्थक हो जाएँगे।

उत्पत्त्यपूर्वकल्पना

ननु सर्वाङ्गविशिष्टस्य प्रधानस्यापूर्वजनकत्वमयुक्तम्, तच्चाशुतरविनाशिनः प्रधानस्याङ्गसाहित्याभावान्न संभवतीति चेत; न; प्रधानकर्मणः स्वरूपेणाङ्गसाहित्याभावेऽपि उत्पत्त्यपूर्वद्वारा साहित्यसंभवात्। प्रधानस्य सर्वाङ्गसाहित्यसिद्ध्यर्थं प्रधानकर्म-परमापूर्वयोर्मध्ये प्रधानमात्रजन्यमुत्पत्तिनामकं किंचिदपूर्वमस्तीत्यङ्गीकारात्। एवमङ्गानामपि परस्परसहितानामेव प्रधानोपकारकत्वात्तेषां स्वरूपेण साहित्याभावात्तत्तदुत्पत्त्यपूर्वद्वारा साहित्यं बोध्यम्। अङ्गानां प्रधानोपकारकत्वं नाम प्रधानस्य फलापूर्वजननसामर्थ्योन्मुखीकरणमेव। दर्शपूर्णमासयोस्तु विशेषः 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' इत्याग्नेययागो विहितः, 'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छत्' इत्यग्नीषोमीययागो विहितः, 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इत्युपांशुयागः 'तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैवनावुपांशुपौर्णमास्यां यजन्' इति वाक्यात्पौर्णमास्यां विहितः। एतानि पौर्णमास्यां प्रधानानि। एषामाग्नेयाग्नीषोमीयोपांशुयागानां तत्तद्वाक्यावगतपौर्णमासीकालसम्बन्धं निमित्तीकृत्य 'य एवं विद्वान्पौर्णमासीं यजते' इति विद्वद्वाक्ये पौर्णमासीपदेनैकवचनान्तेन समुदायरूपेणानुवादः। तेन वेदे यत्र यत्र पौर्णमासीशब्दस्तत्रतत्राग्नेयादिसमुदायोपस्थितिः।

उत्पत्त्यपूर्व कल्पना

सभी अङ्गो सहित प्रधान कर्म अपूर्व का जनक होता है किन्तु ऐसा संभव नहीं है क्योंकि प्रधान कर्म तो शीघ्र ही नष्ट हो जाता है फिर अङ्गों के साथ उसका साहित्य या संबंध कैसे बनेगा ?

---

१. प्राच्य का अथ होता है—पूर्वाङ्ग विधि अर्थात् यज्ञ के पूर्व जो कार्य किया जाता हैं जैसे प्रणयन, समिधाधान, आयतन-शोधनादि। उदीच्य का अर्थ होता है—प्रधान विधि के बाद में जिसका विधान किया जाय। उसको उत्तराङ्ग विधि भी कहते है, जैसे यज्ञ के बाद कराया जाने वाला ब्राह्मण—भोजनादि।

इस प्रकार पूर्वपक्ष द्वारा शंका उठाकर उत्तरपक्ष द्वारा उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं कि उपरोक्त शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि प्रधानकर्म और अङ्ग कर्म के बीच स्वरूपतः कोई संबंध न होने पर भी दोनों के बीच उत्पत्यपूर्व की कल्पना कर लेने से दोनों के बीच साहित्य संभव हो जाता है। प्रधानकर्म का अपने अङ्ग कर्मों के साथ साहित्य अर्थात् दोनों का संबंध सिद्ध करने के लिए ही प्रधान कर्म और परमापूर्व के बीच में प्रधानजन्य एक उत्पत्यपूर्व स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार जो अनेक अंग है वे भी आपस में उत्पत्य अपूर्व के द्वारा ही संबंधित होते हैं या उनका साहित्य होता है। स्वरूपतः उनका साहित्य नहीं होता तथा इसी प्रकार अङ्ग परस्पर संबंधित होकर प्रधान के उपकारक या सहायक बनते हैं। अङ्ग प्रधान के उपकारक होते हैं ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि ये प्रधान को फलापूर्व उत्पन्न करने का सामर्थ्य देते हैं। फलापूर्व उत्पन्न करने की ओर उन्मुख करते हैं जिससे स्वर्गादि फल की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या—यहाँ यह समझ लेना आवश्यक होगा कि प्रत्येक अङ्ग विधि अङ्गापूर्व को उत्पन्न करती है और प्रधानविधि प्रधानापूर्व को उत्पन्न करती है। अङ्गापूर्व और प्रधानापूर्व मिल कर परमापूर्व को उत्पन्न करते हैं इसे फलापूर्व भी कहते हैं इसी से स्वर्गादि फल की प्राप्ति होती है। प्रधानविधि और अङ्गविधि क्रमशः उपकार्य और उपकारक है इन्हें शेष और शेषि भी कहते हैं।

दर्शपूर्णमासयोस्तु विशेषः—अङ्गापूर्व और फलापूर्व का विशेष वर्णन दर्शपूर्णमास के प्रसङ्ग में किया गया है।

दर्शयाग-दर्श का [अर्थ होता है अमावस्या, अमावस्या काल में किया जाने वाला याग।

अमावस्यात्वमावस्यादर्शः सूर्येन्दुसङ्गमः।

पौर्णमास—का अर्थ होता है पूर्णमासी अर्थात् पूर्णमासी में किया जाने वाला याग।

पक्षान्तौ पञ्चदश्यौ द्वे—पौर्णमासी तु पूर्णिमा—कलाहीने सानुमतिः पूर्णेराकानिशाकरे।

दर्शकाल में किया जाने वाले तीनों यागों का त्रिक बनता है तथा पौर्णमास काल में किया जाने वाला तीनों यागों का त्रिक बनता है। इसका

विशेष विवेचन आगे किया जायेगा। यहाँ इस प्रकरण में पूर्णमास काल में किये जाने वाले तीन यागों के त्रिक का वर्णन किया गया है। ये तीनों याग क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. 'आग्नेय याग' 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावस्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' अर्थात् आग्नेय याग में आठ कपालो[१] पर संस्कृत पुरोडाश अर्थात् पकाया हुआ पुरोडाश[२] द्रव्य, अमावस्याकाल में या पूर्णमासी के समय अग्नि देवता को समर्पित करें।

२. अग्निसोमीय याग, 'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छत्' इस वाक्य के द्वारा अग्विसोमीय याग का विधान किया गया है। इसमें ११ कपालों में संस्कृत पुरोडाश द्रव्य अग्निसोम देवता के निमित्त अग्नि में डाला जाता है।

३. उपांशुयाग[३] 'उपांशुयाजमन्तरा यजाति' इस वाक्य के द्वारा उपांशु-याग का विधान किया गया है। आग्नेय और अग्निसोमीय याग करके उपांशु याग करना चाहिए! उपांशु याग भीं पौर्णमास काल में करना चाहिए जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ठ होता है। 'तावब्रूतामग्नीसोमावाज्य-स्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्' उन दोनों अग्नि और सोम देवता ने कहा कि हम दोनों के लिए पूर्णिमा के दिन आज्य के द्वारा ही उपांशु याग करे। यह याग मानस होता है। ऐसा मुँह में बोलते हैं कि बोलने वाला स्वयं सुनता है, दूसरा कोई नहीं सुनता, मात्र जीभ-ओठ चलता है, आवाज नहीं होती। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ये तीनों याग पूर्णिमा [illegible]न ही करना चाहिए। 'आग्नेय अग्नितोमीय और उपांशु इन तीनों [illegible]का तत्तत्त् विधायक वाक्य पौर्णमास काल के संबंध को बतलाता [illegible] 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' अर्थात् पौर्णमास काल के संबंध को

१. कपाल—छोटे-छोटे चौकोर-चौकोर आकार के मिट्टी के टुकड़ों को पकाकर कपाल बनाते हैं, इसी पर पुरोडाश द्रव्य रखकर पकाते हैं।

२. पुरोडाष——यव के आँटे का या चावल को पीसकर कपाल के ऊपर पकाया हुआ पिण्ड विशेष। व्रीहिपिष्टैर्यवपिष्टैर्वा निर्मितः पक्वः पिण्डविशेषः पुरोडाशः।

३. उपांशु याग——बिना बोले चुप रहकर याग करते हैं।
जिह्वोष्ठौ चालयेत् किञ्चिद्देवतागत मानसः, निजश्रवणयोग्यः स्यादुपांशु स जपः स्मृतः "इति।

निमित्त बनाकर जो विद्वान् पौर्णमासी में याग करता है इस विद्वत् वाक्य में पौर्णमासी शब्द में जो एक वचन का प्रयोग हुआ है उसका समुदाय के रूप में अनुवाद करना चाहिए। इस प्रकार वेद में जहाँ-जहाँ पौर्णमासी शब्द आता है, वहाँ-वहाँ आग्नेयादि तीनों यागों की उपस्थिति माननी चाहिए।

यजिपदाश्रवणेऽपि यागकल्पनम्

ननु 'यदाग्नेयम्' इति वाक्ये यागवाचकपदस्याश्रवणात्कथं यागविधायकत्वमिति चेत्,—मैवम्; अग्निर्देवता अस्य पुरोडाशस्येत्यर्थे विहितदेवतातद्धितान्त 'आग्नेय' शब्दः। तस्य पुरोडाशपदसमानाधिकरण्याद्द्रव्यदेवतासम्बन्धोऽवगतः। स यागमन्तरा न सम्भवति, द्रव्यदेवतासम्बन्धस्य यागादन्यत्र क्रियायामसम्भवात् यागक्रियायामेव सम्बन्धो वाच्यः। देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागस्य यागरूपत्वाङ्गीकारात्। अतः श्रुतद्रव्यदेवतासम्बन्धानुमितो यागो यजेतेति कल्पितपदेन विधीयते—अग्निदैवत्यपुरोडाशद्रव्यकामावास्यादिकालकर्तव्ययागेनेष्टं भावयेदिति, एवं यत्र यत्र द्रव्यदेवतासम्बन्धमात्रं श्रूयते 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' इत्यादौ, तत्र सूर्यदेवताचरुद्रव्यसम्बन्धानुमितो यागो विधीयत इति न कश्चिद्दोषः।

यजि पद के न सुनने पर भी याग की कल्पना

पूर्वपक्ष उठाकर शंकाकरते हैं कि 'यदाऽग्नेयोऽष्टकपालोऽमावस्यायाञ्च पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति' इस वाक्य में याग पद सुनाई नहीं देता तब कैसे इस विधि वाक्य को याग का विधायक मान लेते है? पुनः उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि–ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। यहाँ आग्नेय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार हुई है—'अग्निदेवता अस्य पुरोडाशस्य' यह तद्धितान्त शब्द है, इसमें अग्नेर्ढक् से ढक् प्रत्यय लगा है। आग्नेय शब्द का पुरोडाश पद के साथ समानाधिकरण्य[1] होने से पुरोडाश द्रव्य और अग्नि देवता के बीच द्रव्य-देवता सम्बन्ध है। यह द्रव्य-देवता सम्बन्ध याग के बिना

१. 'विभक्तिजन्यं समानाधिकरण्यम्' जो विभक्ति अग्नि में है वही पुरोडाश में भी है अतः, समान विभक्ति वाला होने के कारण दोनों में द्रव्य-देवता संबंध है। इसी प्रकार 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' यहाँ चरु द्रव्य और सूर्य देवता में द्रव्य' देवता संबंध है क्योंकि दोनों में द्वितीया विभक्ति हैं।

विशेष विवेचन आगे किया जायेगा। यहाँ इस प्रकरण में पूर्णमास काल में किये जाने वाले तीन यागों के त्रिक का वर्णन किया गया है। ये तीनों याग क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. **'आग्नेय याग'** 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमाबस्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' अर्थात् आग्नेय याग में आठ कपालों[1] पर संस्कृत पुरोडाश अर्थात् पकाया हुआ पुरोडाश[2] द्रव्य, अमावस्याकाल में या पूर्णमासी के समय अग्नि देवता को समर्पित करें।

२. **अग्निसोमीय याग,** 'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छत्' इस वाक्य के द्वारा अग्विसोमीय याग का विधान किया गया है। इसमें ११ कपालों में संस्कृत पुरोडाश द्रव्य अग्निसोम देवता के निमित्त अग्नि में डाला जाता है।

३. **उपांशुयाग**[3] 'उपांशुयाजमन्तरा यजाति' इस वाक्य के द्वारा उपांशुयाग का विधान किया गया है। आग्नेय और अग्निसोमीय याग करके उपांशु याग करना चाहिए! उपांशु याग भीं पौर्णमास काल में करना चाहिए जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ठ होता है। 'तावब्रूतामग्नीसोमावाज्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्' उन दोनों अग्नि और सोम देवता ने कहा कि हम दोनों के लिए पूर्णिमा के दिन आज्य के द्वारा ही उपांशु याग करे। यह याग मानस होता है। ऐसा मुँह में वोलते हैं कि बोलने वाला स्वयं सुनता है, दूसरा कोई नहीं सुनता, मात्र जीभ-ओठ चलता है, आवाज नहीं होती। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ये तीनों याग पूर्णिमा के दिन ही करना चाहिए। 'आग्नेय अग्नितोमीय और उपांशु इन तीनों यागों का तत्तत्त् विधायक वाक्य पौर्णमास काल के संबंध को बतलाता है। 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' अर्थात् पौर्णमास काल के संबंध को

---

१. कपाल--छोटे-छोटे चौकोर-चौकोर आकार के मिट्टी के टुकड़ों को पकाकर कपाल बनाते हैं, इसी पर पुरोडाश द्रव्य रखकर पकाते हैं।

२. पुरोडाष---यव के आँटे का या चावल को पीसकर कपाल के ऊपर पकाया हुआ पिण्ड विशेष। ब्रीहिपिष्टैर्यवपिष्टैर्वा निर्मितः पक्वः पिण्डविशेषः पुरोडाशः।

३. उपांशु याग---बिना बोले चुप रहकर याग करते हैं।
जिह्वोष्ठौ चालयेत् किञ्चिद्देवतागत मानसः, निजश्रवणयोग्यः स्यादुपांशु स जपः स्मृतः ''इति।

निमित्त बनाकर जो विद्वान् पौर्णमासी में याग करता है इस विद्वत् वाक्य में पौर्णमासी शब्द में जो एक वचन का प्रयोग हुआ है उसका समुदाय के रूप में अनुवाद करना चाहिए। इस प्रकार वेद में जहाँ-जहाँ पौर्णमासी शब्द आता है, वहाँ-वहाँ आग्नेयादि तीनों यागों की उपस्थिति माननी चाहिए।

यजिपदाश्रवणेऽपि यागकल्पनम्

ननु 'यदाग्नेयम्' इति वाक्ये यागवाचकपदस्याश्रवणात्कथं यागविधायकत्वमिति चेत्,—मैवम्; अग्निर्देवता अस्य पुरोडाशस्येत्यर्थे विहितदेवतातद्धितान्त 'आग्नेय' शब्दः। तस्य पुरोडाशपदसमानाधिकरण्याद्द्रव्यदेवतासम्बन्धोऽवगतः। स यागमन्तरा न सम्भवति, द्रव्यदेवतासम्बन्धस्य यागादन्यत्र क्रियायामसम्भवात् यागक्रियायामेव सम्बन्धो वाच्यः। देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागस्य यागरूपत्वाङ्गीकारात्। अतः श्रुतद्रव्यदेवतासम्बन्धानुमितो यागो यजेतेति कल्पितपदेन विधीयते—अग्निदैवत्यपुरोडाशद्रव्यकामावास्यादिकालकर्तव्ययागेनेष्टं भावयेदिति, एवं यत्र यत्र द्रव्यदेवतासम्बन्धमात्रं श्रूयते 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' इत्यादौ, तत्र सूर्यदेवताचरुद्रव्यसम्बन्धानुमितो यागो विधीयत इति न कश्चिद्दोषः।

यजि पद के न सुनने पर भी याग की कल्पना

पूर्वपक्ष उठाकर शंकाकरते हैं कि 'यदाऽग्नेयोऽष्टकपालोऽमावस्यायाञ्च पौर्णमास्याञ्चाच्युतौ भवति' इस वाक्य में याग पद सुनाई नहीं देता तब कैसे इस विधि वाक्य को याग का विधायक मान लेते है? पुनः उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि–ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। यहाँ आग्नेय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार हुई है—'अग्निदेवता अस्य पुरोडाशस्य' यह तद्धितान्त शब्द है, इसमें अग्नेर्ढक् से ढक् प्रत्यय लगा है। आग्नेय शब्द का पुरोडाश पद के साथ समानाधिकरण्य[1] होने से पुरोडाश द्रव्य और अग्नि देवता के बीच द्रव्य-देवता सम्बन्ध है। यह द्रव्य-देवता सम्बन्ध याग के बिना

---

१. 'विभक्तिजन्यं समानाधिकरण्यम्' जो विभक्ति अग्नि में है वही पुरोडाश में भी है अतः, समान विभक्ति वाला होने के कारण दोनों में द्रव्य-देवता संबंध है। इसी प्रकार 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' यहाँ चरु द्रव्य और सूर्य देवता में द्रव्य' देवता संबंध है क्योंकि दोनों में द्वितीया विभक्ति हैं।

सम्भव नहीं है द्रव्य-देवता का सम्बन्ध याग के अतिरिक्त अन्य क्रिया में सम्भव नहीं है। याग क्रिया में ही सम्बन्ध वाच्य है। देवता को उद्देश्य करके द्रव्य का त्याग करना या द्रव्य अग्नि में डालना ही याग का स्वरूप स्वीकार किया गया है।[1] जैसा कि वेद में कहा गया है कि द्रव्य-देवता सम्बन्ध की अनुमिति करने के बाद 'यागो यजेत' इस कल्पित पद के साथ सम्बन्ध का विधान किया गया है और इस प्रकार से अर्थ करते हैं' अग्नि देवता के लिएपुरोडाश आदि की सहायता से अमावस्यादि के समय किए गए याग के द्वारा इष्ट की या स्वर्ग की भावना करनी चाहिए। यहाँ भावना क्रिया रूप है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ द्रव्य और देवता का केवल मात्र सम्बन्ध सुनाई देती है वहाँ-वहाँ याग का विधान मान लेना चाहिए जैसे 'सौर्यं चरुं निर्वपेत' यहाँ सूर्य देवता और चरु द्रव्य का द्रव्य-देवता सम्बन्ध मात्र बताया गया है। अतः, यहाँ भी याग की कल्पना कर लेनी चाहिए इसमें कोई दोष नहीं है।

लिङाद्यभावेऽपि विधायकत्वम्

ननूपांशुयागवाक्ये यजेः श्रवणेऽपि विधिप्रत्ययलिङादेरभावात्कथं विधायकत्वमिति चेत्,—शैवम्, 'यजति' इत्यस्य 'यजेत' इति विपरिणामेन विधायकत्वसम्भवात्। एवं 'व्रीहीन् प्रोक्षति', 'समिधो यजति इत्यादावपि विपरिणामो बोध्यः।

लिङ्गादि का अभाव रहने पर भी विधायकत्व की कल्पना

'उपांशुयाजमन्तरा यजति इस वाक्य में यज् धातु का श्रवण होने पर भी विधिप्रत्ययलिङादि का अभाव है अर्थात् विधि को बताने वाला लिङ् लकार यहाँ नहीं है, यजति यह लट् लकार तो है किन्तु चाहिए अर्थ में यजेत् यह विधिलिङ् प्रत्यय नहीं लगा है। यजति कहने से याग करता है, यह बोध होता है याग करना चाहिए यह बोध नहीं होता है।

इस शंका का समाधान दूसरे ढंग से करते हैं। यजति इसका यजेत इस ढंग से विपरिणाम कर देते हैं अर्थात् विशेष ढंग से उसको परिणत कर देते हैं और तब उपांशुयाजमन्तरा यजति, यह वाक्य, याग का विधायक बनता है। इसी प्रकार 'व्रीहीन् प्रोक्षति' 'समिधो यजति' इन वाक्यों

---

१. 'देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागः यागः'।

में भी लिङ् लकार नहीं हैं किन्तु विपरिणाम से लिङ् लकार का बोध हो जाता है। यजति इस पद को पञ्चम लकार अर्थात् लेट् लकार मानकर यजति पद का विधायकत्व माना गया है। 'लट् वर्तमाने लेट् वेदे' इस नियम के अनुसार लट् को लेट् मानकर उक्त वाक्य को विधायक वाक्य मान लेते हैं।

जिस प्रकार पौर्णमास कहने से पूर्णमासी के समय विधान किए जाने वाले तीनों यागों का बोध होता है अर्थात् 'आग्नेय' अग्निसोमीय और उपांशु याग इस त्रिक का बोध होता है उसी प्रकार 'दर्श' कहने से अमावस्या के समय सम्पन्न होणे वाले तीनों यागो का अर्थात् ऐन्द्रदधियाग, ऐन्द्रपयोयाग तथा आग्नेय पुरोडाश याग का बोध होता है।

१. 'यदाग्नेथोऽष्टाकपालोऽमावस्यायाञ्च पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति' इस वाक्य से अमावस्या तथा पूर्णमासी दोनों काल में सम्पन्न होने वाले आग्नेय याग का विधान किया गया है। इस तरह अमावस्या के समय होने वाले आग्नेय पुरोडाश याग का विधान उक्त वाक्य से हुआ।

२. **ऐन्द्रदधियाग**—'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्' इस वाक्य से एन्द्रदधियाग का बोध होता हैं। यहाँ इस याग में देवता इन्द्र हैं तथा दधि द्रव्य हैं।

३. **ऐन्द्रपयोयाग**—'ऐन्द्रं पयोऽमावस्यायाम्' इस याग में इन्द्र देवता है तथा द्रव्य है।

एन्द्रदधियाग और एन्द्रपयोयाग दोनों को मिलाकर सन्नाय्य याग कहते हैं।

दर्शपूर्णमासाभ्यां यह तृतोया का द्विवचन है। अमावस्या के समय में होने वाले तीन याग का एक समुदाय या एक त्रिक तथा पूर्णमासी के समय में होने वाले तीन यागो का एक समुदाय या एक त्रिक। इस प्रकार इन दो त्रिको या दो समुदायों की दृष्टि से दर्शपूर्णमासाभ्यां में द्विवचन लगा है।

'य एवं विद्वानमावस्यां यजते' इस वाक्य में अमावस्यां शब्द में जो द्वितीया एक वचन लगा है, उसका समुदाय के रूप में अनुवाद करना चाहिए अर्थात् उससे अमावस्याकाल में होने वाले तीनों यागों को समझना चाहिए। विद्वद् वाक्य में अनुवाद का यही प्रयोजन है। (अर्थात् उसको पुनः कहने का उद्देश्य यही है कि 'दो त्रिको का समुदाय के रूप में ग्रहण करके (अर्थात् अमावस्याकाल में सम्पन्न होने वाले तीनों यागों

का एकत्रिक और पूर्णमासी के समय होने वाले यागों का एक त्रिक) 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्' इस वाक्य में द्विवचन की उपपत्ति मानेंगे अर्थात् दर्श और पूर्णमास इन दो शब्दों को लेकर उनसे उनके त्रिकों का थोध करने से द्विवचन युक्ति संगत हो जाता। यदि ऐसा न करते तब छः यागों के होने के कारण दर्शपूर्णमासैः ऐसा बहुवचन का प्रयोग हो जाता।

अनुवाद का अर्थ होता है मानान्तर से प्राप्त अर्थ का पुनः ग्रहण करना।

त्रिकापूर्वाद्युत्पत्तिः

एवं स्थिते 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यस्यायमर्थः— दर्शपूर्णमासाभ्यां समुदायाभ्यां परस्परसहिताभ्यां स्वर्गापूर्वं कुर्यादिति। तत्र कथं कालद्वयवर्तिनोः समुदाययोः परस्परसाहित्यमित्याकाङ्क्षायां स्वरूपेण साहित्याभावेऽपि त्रिकात्त्रिकादेकैकमपूर्वं जायते, तद्द्वारा द्वयोः समुदाययोः साहित्यमुच्यते। एकैकस्य त्रिकस्यापि त्रिकापूर्वजनकत्वं कथमित्याकाङ्क्षायां प्रयाजानुयाजादिपूर्वोत्तराङ्गकलापविशिष्टस्यैकैकस्य त्रिकस्य समुदायापूर्वजनकत्वमुच्यते। एकैकत्रिकस्य सर्वाङ्गसाहित्यं स्वरूपेण न सम्भवतीति त्रिभिर्यागैस्त्रीण्युत्पत्त्यपूर्वाणि जायन्ते, तद्द्वारा सर्वाङ्गसाहित्यम्। अङ्गानामपि प्रयाजादीनां स्वरूपेण प्रधानसाहित्याभावात्तत्तदुत्पत्त्यपूर्वद्वारा साहित्यं वाच्यम्। तथा च प्रधानजन्योत्पत्त्यपूर्वाणां प्रयाजादिजन्योत्पत्त्यपूर्वैः साहित्यं यदस्ति तदेव प्रधानानामङ्गविशिष्टस्वरूपं साङ्गत्वम्। एवं च पौर्णमास्यामाग्नेयादिजन्यैस्त्रिभिरपूर्वैः प्रयाजादिजन्योत्पत्त्यपूर्वसचिवैः समुदायापूर्वमेकं जन्यते तथा दर्शेऽपि आग्नेयैन्द्रद्वयजन्यैस्त्रिभिरपूर्वैरङ्गोत्पत्त्यपूर्वसचिवैरेकं त्रिकापूर्वं जन्यते, ताभ्यां त्रिकापूर्वाभ्यां आग्नेयाद्युत्पत्त्यपूर्वत्रितयजन्याभ्यां फलजनकीभूतं महापूर्वं फलापूर्वनामकं जान्यते, ततश्च फलमिति। तथा च सर्वाङ्गोपकृताभ्यां दर्शपूर्णमासाभ्यामपूर्वद्वारा स्वर्गं कुर्यादिति फलापूर्वनिष्पत्तये साङ्गप्रधानकर्तव्यताबोधको विधिः प्रयोगविधिरिति सिद्धम्।

त्रिकादि अपूर्व की उत्पत्ति

पूर्वपक्ष से शंका उठाकर उत्तर पक्ष द्वारा समाधान प्रस्तुत करके यह सिद्ध करते हैं कि ये दोनों त्रिक्र अपने-अपने उत्पत्त्यपूर्व के द्वारा एक दूसरे

से सम्बद्ध होते हैं। त्रिकापूर्व से समुदायापूर्व उत्पन्न होता हैं तथा समुदया-पूर्व से फलापूर्व उत्पन्न होता है।

दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत 'इस वाक्य से यह अर्थ निकलता है कि दर्श और पूर्णमास इन दोनों त्रिकों के समुदायों के परस्पर साहित्य से स्वर्गापूर्व की उत्पत्ति करे' किन्तु दर्श याग अमावस्या में हुआ और पूर्णमास याग, पूर्णिमा के समय हुआ, फिर दो काल में होने वाले त्रिक समुदायों का परस्पर साहित्य या संबंध कैसे हो सकता है? याग की क्रिया तो क्षणिक हैं और ६ याग एक साथ सम्पन्न भी नहीं हो सकते। अतः इनका एक दूसरे से साहित्य या संबंध नहीं हो सकता और जब साहित्य नहीं होगा तब इनसे स्वर्ग की प्राप्ति कैसे होगी?

इस शंका का समाधान निम्न ढंग से प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि दोनों त्रिकों का परस्पर साहित्य संभव नहीं है, किन्तु मीमांसकों के कथनानुसार दोनों त्रिकों से एक-एक अपूर्व उत्पन्न होता है और उस अपूर्व के माध्यम से दोनों त्रिकों का परस्पर साहित्य बनता है। अब यह आकांक्षा होती है कि एक-एक त्रिक त्रिकापूर्व का जनक कैसे होता है? तो उत्तर देते हैं कि प्रयाज अनुयाजादि[1] याग जो आग्नेयादि के पूर्व किए जाते हैं और आग्नेयादि के अंग हैं, उनकी सहायता से एक-एक त्रिक, समुदायापूर्व का जनक होता है। अब प्रश्न उठता है कि त्रिक अपने त्रिकापूर्व को कैसे उत्पन्न करता है। इसका समाधान करते हैं कि एक-एक त्रिक का या दोनों त्रिकों का परस्पर एक दूसरे से सर्वाङ्पूर्ण साहित्य स्वरूपतः नहीं बन पाता। अतः ऐसा मानते हैं कि क्रमशः तीनों यागों से तीन उत्पत्यपूर्व उत्पन्न होता है और उनके द्वारा त्रिकों का सर्वाङ्ग साहित्य बनता है। उसी प्रकार प्रयाज अनुयाजादि का प्रधान याग से स्वरूपतः साहित्य संभव नहीं है अतः इसका साहित्य भी उत्पत्यपूर्व के द्वारा संभव होता है। प्रधानजन्य उत्पत्यपूर्व और प्रयाजादि जन्य उत्पत्यपूर्व जो साहित्य बनाते

---

१. होत्रा धृतवतीम् इति मन्त्रे उक्ते अध्वर्युः स्रुचौ गृहीत्वा यजतिदेशं गत्वा ओश्रावय इत्युक्त्वा समिधोयज इति होतारं ब्रूयात् पञ्च प्रयाजान् पुरोनुवाक्या रहितान् सकृदतिक्रान्त एव समिद्धतमे अग्नौ जुहुयात्—

यज् यजेति शेषम्

अनुयाजेषु च

अनुयाज वृद्धावपि चतुर्थसप्तदशमेषु समानयनं कार्यम्

हैं, वह प्रधानयाग का अंग विशिष्टत्व या सांगत्व है। इसी प्रकार पूर्णमासी काल में होने वाले तीनों याग अर्थात् आग्नेय, अग्निसोमीय और उपांशु याग इन तीनों से उत्पन्न उत्पत्यपूर्व, प्रयाज अनुयाजादि से उत्पन्न उत्पत्यपूर्व के साथ मिलकर एक समुदायापूर्व उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार अमावस्याकाल में सम्पन्न होने वाले तीनों यागो से अर्थात् ऐन्द्रपयोयाग आग्नेय याग इन तीनों यागों से उपन्न उत्पत्यपूर्व, प्रयाजादि अंगों से उत्पन्न उपत्यपूर्व के साथ मिलकर त्रिकापूर्व या समुदायापूर्व उत्पन्न करते है।

ये दोनों त्रिकापूर्व तथा आग्नेयादि याग से उत्पन्न तीन-तीन उत्पत्यपूर्वो से उत्पन्न दो समुदायापूर्व, साथ मिलकर या दूसरे शब्दों में ऐसे कह सकते हैं कि त्रिकापूर्व और समुदायापूर्व मिलकर महापूर्व नामक फलापूर्व को उत्पन्न करते हैं जो स्वर्गादि फल को उत्पन्न करता है। इस प्रकार सभी अंगों से उपकृत होकर दर्शपूर्ण मास से अपूर्व के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है अर्थात् फल की निष्पत्ति होती है। अङ्ग कर्म सहित प्रधान कर्म का बोध कराने वाली विधि प्रयोगविधि कहलाती है।

प्रयाज और अनुयाज दर्शपूर्णमासादि के प्रधान याग के अङ्ग है ऐसा मीमांसा शास्त्र में अनेक बार कथन किया गया है। यहाँ इस प्रसंग में प्रयाज और अनुयाज को विशेष रूप से स्पष्ट करना आवश्यक हैं।

प्रयाज—'प्रकर्षेण इज्यन्ते देवता एभिः ते प्रयाजाः' 'प्रधानयागात् पूर्वं यैः ते प्रयाजाः'[1] प्रधान याग से पूर्व प्रकृष्ट रूप से किए जाने वाले ५ यागों के समूह को प्रयाज कहते हैं।[1]

इडो यजति, बर्हिर्यजति, समिधो यजति, तनूनपातं यजति, स्वाहाकारं यजतीत्येवं पञ्चाहुत्यात्मकमित्यर्थः। अङ्गजातमिति एतेन अमुकद्रव्येण जुहाति, अमुकदेवतायै जुहोति, अमुकमन्त्रेण जुहोति, प्राङ्मुखो जुहोतीत्यदि श्रुतिबोधिताग्निप्रक्षेप द्रव्यदेवतामन्त्रप्राङ्मुखत्वाद्यङ्गमात्रस्य इति कर्त्तव्यतात्वमुपकारत्वञ्च सिद्धति। (प्राप्तिपादिका)

दर्शपूर्णमासादि प्रधान याग के पूर्व ईड याग, बर्हिष् याग, समिध याग, तनूनपात याग और स्वाहाकार याग आते है। याग के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले, द्रव्य, देवता, मन्त्र और आहुति की दिशा आदि का

---

१. कात्यायन श्रौत्रसूत्र—टिप्पणी विद्याधर शर्मा।

समूह प्रयाजादि का अङ्ग होता है। उपकारक होने से इनको इति-कर्त्तव्यता के रूप में स्वीकार किया जाता हैं प्रमुख यागों के पूर्व इन ईडादि ५ यागों को अर्थात् प्रयाज को सम्पादित करके, अग्नि, विष्णु, अग्निषोम तथा इन्द्र वैमृध इन चार देवताओं से सम्बद्ध प्रमुख याग किया जाता है। इसके बाद विश्वेदेवों के लिए आहुति दी जाती है। इस कर्म को स्विष्टकृत याग कहते है। इसके बाद अनुयाजादि तीन यागों को सम्पादित किया जाता है। अनुयाज "अनुपश्चात् प्रधानयागानन्तरं इज्यते यैः अनु-याजाः मन्त्राः होभाः देवाश्च[1]" प्रधान याग के बाद किए जाने वाले तीन यागों के समूह को अनुयाज कहते हैं, जो 'पृषदाज्य' जमे हुए घी से किए जाते हैं।

विधित्रैविध्यम्

पुनरपि विधिस्त्रिविधः—अपूर्वविधिः, नियमविधिः, परिसंख्या-विधिश्चेति।

विधि के तीन भेद

विधियाँ तीन प्रकार की होती हैं—अपूर्वविधि, नियमविधि, और परिसंख्या विधि।

अपूर्वविधिः

तत्र यो विधिरत्यन्ताप्राप्तमर्थं प्रापयति सः अपूर्वविधिः—यथा दर्श-पूर्णमासप्रकरणे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इति। एतद्विध्यभावे दर्शपूर्णमासीय-व्रीहिषु प्रोक्षणं कथमपि न प्राप्नोति। एतद्विधिसत्त्वे तु तत्सम्बन्धिव्रीहिषु प्रोक्षणं प्राप्नोत्येवेत्यन्ताप्राप्तप्रोक्षणप्रापकत्वादयमपूर्वविधिः।

जो विधि अत्यन्त अप्राप्त अर्थ का विधान करती है उसे अपूर्वविधि कहते हैं। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस याग के प्रकरण में 'व्रीहीन् प्रोक्षति' व्रीहियों को याग के प्रयोग में लाने से पूर्व उनका जल से सिञ्चन करके उसका संस्कार करते हैं। इसी को प्रोक्षण कहते हैं। व्रीहि के प्रोक्षण का विधान, 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इस वाक्य के अलावा अन्य किसी वाक्य से नहीं हुआ है, अतः यह अपूर्वविधि है। इस विधि वाक्य के अभाव में दर्शपूर्णमास याग में व्रीहियों का प्रोक्षण न हो पाता। इस विधि वाक्य के रहने पर प्रोक्षण का विधान प्राप्त होता है और इस विधि वाक्य के न

---

१. कात्यायन श्रौत्र—टिप्पणी विद्याधर शर्मा।

रहने पर प्रोक्षण का विधान प्राप्त नहीं होता है। अतः अप्राप्त का विधान करने के कारण यह अपूर्वविधि है।[1]

नियमविधिः

यश्च पक्षे प्राप्तमर्थं नियमयति स नियमविधिः—यथा तत्रैव 'व्रीहीनवहन्ति' इति। एतद्विध्यभावे दर्शपौर्णमासिकेषु व्रीहिषूत्पत्तिवाक्यावगतपुरोडाशोपयोगितण्डुलनिष्पत्त्यनुकूलवैतुष्यकार्यायाऽवहननवत् कदाचिन्नखविदलनमपि प्राप्नुयादिति, तस्मिन्पक्षेऽवहननस्य प्राप्तेरभावात् कार्यान्यथोपपत्तेरवहननस्य पाक्षिकी प्राप्तिः स्यात्। सति त्वस्मिन्विधौ अवहननेनैव वैतुष्यं कार्यमिति नियमे सति विदलनं सर्वात्मना निवर्तत इति नियमविधिरयम्।

नियमविधि

जो विधि अर्थ का नियमन करती है वह नियमविधि है। अर्थात् एक ही समय में एक ही स्थान पर जब अनेक पक्ष के अर्थ की प्राप्ति होती है किन्तु जो विधि उनमें से किसी पक्ष विशेष का नियमन कर देती या किसी एक पक्ष को नियन्त्रित कर देती है उसे नियम विधि कहते हैं।

'जैसे व्रीहीनवहन्ति' यह नियमविधि है। यद्यपि उत्पत्तिवाक्य से यह ज्ञात हो जाता है कि व्रीहि पुरोडाश के लिए आवश्यक है तथा पुरोडाश के लिए वीहि को उपयोगी बनाने के लिए उसकी भूसी निकालकर उसको चावल बनाना भी आवश्यक है[2], किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि भूसी निकालने के अनेक साधन हैं अवहनन क्रिया[3] द्वारा, नख विदलन[4] द्वारा या मशीन आदि के द्वारा। अतः इस प्रसंग में केवल अवहनन क्रिया के द्वारा ही वितुषीकरण (व्रीहि से भूसी निकालने का कार्य) होगा, यह बोध नहीं होता। कार्य की अन्यथा उपपत्ति होने से

---

१. अपूर्व विधि, नियम विधि, तथा परिसंख्या विधि के विषय में विशद व्याख्या भूमिका में द्रष्टव्य हैं।

२. वैतुष्यीकरण का अर्थ होता है, व्रीहि धान की भूसी निकालना। जिससे वह चावल रुप मे परिणत हो जाय और उसका पुरोडाश बन सके।

३. अवहनन क्रिया—व्रीहि धान को ओखली में कूटकर भूसी निकालना।

४. नख विदलन क्रिया—नाखून के द्वारा भूसी छुड़ाना।

अवहनन की पाक्षिक प्राप्ति होगी अर्थात् ब्रीहि से भूसी निकालने का कार्य जब अन्य साधनों से भी होता है, तो कभी ओखली में ब्रीहि को कूट कर भी भूसी निकाल सकते है, कभी अन्य साधनों से भी। किन्तु इस प्रसंग में नियमविधि से यह नियम बनता है कि वैतुष्य का कार्य अवहनन के द्वारा ही होगा तथा अन्य विधि के द्वारा नहीं होगा अर्थात् नखविदलन आदि से वैतुष्य का कार्य नहीं होगा। अतः यह नियमविधि हैं, इस प्रकार नियम विधि किसी विशेष विधि का नियमन करती हैं जिससे अन्य विधि का स्वयमेव निषेध हो जाता है।

यहाँ यह शंका उठती है कि वैतुष्यीकरण का कार्य नखविदलन क्रिया से सम्भव है तब व्यर्थ में ही अवहनन क्रिया का नियम बनाने की क्या आवश्यकता है? समाधान—वस्तुतः अवघात से वैतुष्यीकरण करने से अदृष्ट की उत्पत्ति होती है, जिसे नियमादृष्ट कहते है। अर्थात् नियमापूर्व की उत्पत्ति होती है। यह नियमापूर्व यागजन्य अपूर्व के साथ मिलकर फलापूर्व उत्पन्न करता है। नियमापूर्व के अभाव में फलापूर्व नहीं उत्पन्न हो सकता। अतः, नियमापूर्व की कल्पना व्यर्थ नहीं है। इसी प्रकार 'सोमेन यजेत' इस वाक्य को भी नियमविधि का ही उदाहरण समझना चाहिए।

परिसंख्याविधिः

द्वयोः समुच्चित्य प्राप्तावितरनिवृत्तिफलको विधिः परिसंख्याविधिः— यथा चयनप्रकरणे 'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इत्यश्वरशनाग्रहणाङ्गत्वेन मन्त्रविधिः। एतद्विध्यभावे हि रशनाग्रहणप्रकाशको मन्त्रो रशनाऽऽदानप्रकाशनसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गादश्वरशनाऽऽदान इव गर्दभरशनाऽऽदानेऽपि प्राप्नुयात्। सत्यस्मिन्विधौ अनेन मन्त्रेणाश्वरशनामेवाददीत, ननु गर्दभरशनाम्; सा तु तूष्णीमेव ग्राह्येति गर्दभरशनायां मन्त्रनिवृत्तिर्भवतीति द्वयोः समुच्चित्य प्राप्तावितरनिवृत्तिफलकत्वादयं परिसंख्याविधिः। एवं 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यादावपि बोध्यम्।

परिसंख्याविधिः

जब दो विधानों की एक साथ प्राप्ति होती है तब दूसरे विधान की निवृत्ति करा देने वाली विधि परिसंख्याविधि कहलाती है। अर्थात् याग सम्बधित विधि को सम्पादित करने के लिए जब दो विधानों की

प्राप्त होती है, तब परिसंख्या विधि यह निर्देश करती है कि इन दोनों में से किसी एक को करें दूसरे को न करे।

चयन याग के प्रकरण में 'इमानगृम्णन् रशनामृतस्य इत्यश्वाभिदानी मादत्ते' इत्यादि मन्त्र वाक्य द्वारा अश्वरशना के ग्रहण का विधान किया गया है। यदि 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' ऐसा न कहा गया होता इमामगृम्णन् रशनामृतस्य केवल इतना ही कहा गया होता अर्थात् रशना (डोरी) को पकड़ने का ही उल्लेख होता, अश्व की ही डोरी पकड़ने का निर्देश नहीं होता तो गदर्भ भी डोरी पकड़ने का नियम बन जाता क्योंकि लिङ्ग सामर्थ्य से अश्वरशना पकड़ने का नियम जिस प्रकार बनता है उसी प्रकार गर्दभ की भी रशना पकड़ने का नियम बनता है, किन्तु 'इत्यश्वा मिधानीमादत्ते 'इस परिसंख्य विधि से गर्दभ की रज्जु पकड़ने का निषेध हो जाता है। इस प्रकार अश्वरशना ग्रहण और गर्दभ रशना ग्रहण दोनों की एक साथ प्राप्ति होने पर 'अश्वमिधानीमादत्ते' ऐसा कहने पर केवल अश्वरशना ग्रहण की ही प्राप्ति होती है, गर्दभ रशना ग्रहण की निवृत्ति हो जाती है। गर्दभ रशना का चुपचाप बिना कुछ बोले या मन्त्र का उच्चारण किए ही ग्रहण करते हैं, जबकि अश्वरशना का ग्रहण उक्त मन्त्र का उच्चारण करके करते हैं। अतः, यह परिसंख्या विधि है। इसी प्रकार 'पञ्चपञ्चनखामक्ष्याः' को भी परिसंख्या विधि का उदाहरण समझना चाहिए।

व्याख्या—चयनयाग की वेदिका बनाने के लिए ईटो की आवश्यकता पड़ती है। अब प्रश्न उठता है कि इन ईंटो के निर्माण के लिए किसके पोठ पर मिट्टी लादकर ढोयी जाय, घोड़े की पीठ पर या गदहे की पीठ पर। अतः इस प्रसङ्ग में घोड़े की डोरो पकड़ी जाय या गर्दभ की डोरी पकड़ी जाय। नियम तो दोनों की डोरी पकड़ने का बनता है किन्तु 'इमाम् गृभ्णन् रशनामृतस्य इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इस मन्त्र वाक्य में अश्वरशना का उल्लेख होने से, गर्दभ की रशना ग्रहण का निषेध हो जाता है। यह मन्त्र वाक्य यह बोध कराता है कि अश्वरशना का हो ग्रहण करना चाहिए यर्दभ रशना का ग्रहण नहीं करना चाहिए, इतर का निषेध करता है अतः, यह मन्त्र वाक्य परिसंख्याविधि है।



अथ द्वितीय प्रमाणनिरूपणप्रकरणम्

श्रुत्यादि षड् प्रमाणानि

पूर्वं दर्शपूर्णमासाङ्गत्वं प्रयाजादीनामुक्तम्। तत्राङ्गत्वबोधकप्रमाणानि—श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या-भेदेन षट्।

प्रयाज और अनुयाजादि को दर्शपूर्णमास का अङ्ग बताया गया है। प्रयाजादि को अङ्कत्व सिद्ध करने के ६ प्रमाण है (१) श्रुति (२) लिङ्ग (३) वाक्य (४) प्रकरण (५) स्थान (६) समाख्या।

श्रुतिः

तत्र 'दध्ना जुहुयात्' इत्यत्राऽग्निहोत्रवाक्यप्राप्तं होमं जुहुयादित्यनेनोद्दिश्य तत्करणत्वेन तृतीयाश्रुत्या दधि विधीयत इति श्रुत्या दध्नोऽङ्गत्वम्।

श्रुति प्रमाण

'दध्ना जुहुयात्' इत्यादि विधियों से पूर्व 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वाक्य के द्वारा अग्निहोत्र होम उल्लेख का उद्देश्य के रूप में किया जा चुका है। 'दध्ना जुहुयात्' इस वाक्य के द्वारा दधि को हौम के करण, साधन या अङ्ग के रूप में विधान किया गया है। दधि होम का अङ्ग है, इसका ज्ञान हमें 'दध्ना' दधि शब्द का तृतीया एक वचन का रूप सुनने से ही होता है। तृतीया एक वचन में दधि का रूप दध्ना चला है उसे सुनकर ही यह बोध होता है कि दधि के द्वारा अग्निहोत्र होम करना चाहिए। अतः दधि अङ्ग है, साधन है या करण है इसका बोध हमें श्रुति प्रमाण से होता है।

व्याख्या—मीमांसापरिभाषाकार ने श्रुति का लक्षण न करके उदाहरण के द्वारा श्रुति प्रमाण को स्पष्ट कर दिया है। अर्थ संग्रहकार नै इसका निम्न लक्षण प्रस्तुत किया है—

निरपेक्षोखः श्रुतिः—(प्रमाणान्तरनिरपेक्षः शब्दः श्रुतिरित्यर्थः।)

अर्थात् श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन छ प्रम.णों में से अन्य किसी प्रमाण की जो अपेक्षा नहीं करता वह निरपेक्ष

शब्द श्रुति प्रमाण है अर्थात् अङ्गत्व का बोध कराने के लिए जो प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं करता वह श्रुति प्रमाण है। यह स्वयं ही अङ्गत्व का बोध कराती है। यहाँ यह बात स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि श्रुति का अर्थ यहाँ वेद के शब्द या ध्वनि से है।

भाट्टदीपिकाकार ने श्रुति का लक्षण किया है।

श्रुतिर्नाम अङ्गत्वघटकीभूतोद्देश्यत्वकृतिकारकत्वयोरन्यतरस्य प्राधान्येन वाचकः शब्दः। स च द्वितोयातृतीयादिविभक्तिरूपः।'

श्रुति का अर्थ है कि अङ्गत्व से युक्तः, उद्देश्यरूप कृति का बोध कराने वाला जो शब्दअङ्ग विधि का या अङ्ग से युक्त प्रधान विधि का बोध मुख्य रूप से कराता है, उस वाचक शब्द को श्रुति कहते हैं, वह द्वितीया या तृतीया विभक्ति के द्वारा बोध कराता है, जैसा कि उदाहरण में दिया जा चुका है।

अर्थसंग्रहकार ने श्रुति प्रमाण के तीन भेद माना है। विधात्री·विधान करने वाली विधि विधात्री कहलाती है। जैसे—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः यजेत' इस वाक्य में यजेत का सीधा सम्बन्ध ज्योतिष्टोम से है अतः, यह विधात्री है।

२. अभिधात्री श्रुति प्रमाण-वेद वाक्य का वह शब्द है जो किसी तरह का विधान नहीं करना अपितु वस्तुमात्र का अभिधा के रूप में कथन करता है। 'व्रीहीन प्रोक्षति' यहाँ व्रीहि शब्द अभिधात्री श्रुति प्रमाण हैं क्योंकि व्रीहीन् इस पद का अर्थ है धान के दाने इसके द्वारा किसी कर्म का विधान नहीं किया जाता।

'विनियोक्त्री' श्रुति- जिस शब्द के सुनते ही अङ्ग का प्रधान पदार्थ से सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है वह विनियोक्त्री श्रुति है।

विनियोक्त्री श्रुति का भी तीन भेद किया है। विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा और एकपदरूपा।

लिङ्गम्

लिङ्गं नाम सामर्थ्यम्। तच्च द्विविधम्—अर्थगतं शब्दगतं चेति। —आद्यं यथा 'स्रुवेणावद्यति' इत्यवदानसामान्यशेषत्वावगमेऽपि स्रुवस्य सामार्थ्यरूपाल्लिङ्गादाज्यसांनाय्यादिद्रवद्रव्यस्यावदानविशेषाङ्गत्वम्; स्रुवेण पुरोडाशाद्यददानस्य कर्तुमशक्यत्वात्।

शब्दगतं तु लिङ्गमर्थप्रकाशनसामर्थ्यम्। यथा 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इति मन्त्रस्य निर्वाप प्रकाशनसामर्थ्यरूपात् लिङ्गान्निर्वापाङ्गत्वम्। यस्य मन्त्रस्य यत् प्रकाशन सामर्थ्यं तस्य तदङ्गत्वम्। यथा 'बर्हि देवसदनं दामि' इति मन्त्रस्य बर्हिलवनप्रकाशन सामर्थ्यमिति शब्दसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गाद्दर्भलवनाङ्गत्वम्।

लिङ्गप्रमाण

लिङ्ग का अर्थ है सामर्थ्य। शब्द के प्रकाशन का सामर्थ्य लिङ्ग प्रमाण कहलाता है। लिङ्गप्रमाण दो प्रकार का होता है। अर्थगत लिङ्गप्रमाण और शब्दगत लिङ्गप्रमाण। अर्थगत लिङ्गप्रमाण—'स्रुवेणावद्यति[1]' अवदान का अर्थ होता है, ग्रहण करना या लेना सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ हुआ स्रुवा अर्थात् लकड़ी से बने साधन से ग्रहण करता है। अवदान सामान्य रूप से सभी पदार्थों के ग्रहण करने का बोध करता है। किन्तु 'स्रुवा' पात्र विशेष के द्वारा अवदान करने का विधान किया है तो यहाँ केवल आज्य[2] और सन्नाय[3] जैसे तरल पदार्थ का ही ग्रहण कर सकते हैं। पुरोडाशादि ठोस पदार्थ का ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि स्रुवा लकड़ी का एक ऐसा पात्र है जिसमें तरल पदार्थ को ही ग्रहण करने का सामर्थ्य है, ठोस पदार्थ को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं है। स्रुवा इस शब्द के अर्थ से ही उसके उक्त सामर्थ्य का बोध होता है अतः, यह अर्थगत लिङ्ग-प्रमाण है।

शब्दगत लिङ्कप्रमाण—जिस शब्द में अर्थ प्रकाशन का सामर्थ्य होता है उसे शब्दगत लिङ्गप्रमाण कहते हैं। जैसे 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इत्यादि मन्त्र निर्वाप का विधान करता है। जब सामग्रियाँ एकत्रित रहती हैं और उनमें से जितना अंश चाहिए, उतना अलग करके निकाल देते हैं तो उसे निर्वाप कहते हैं। जैसे—इस मन्त्र में यह अर्थ प्रकाशित

---

१. स्रुवा—पलाशकाष्ठनिर्मिता बाहुमात्रीहंसमुखप्रणालिका स्रकजुहूः। हूयते अनया।

पलाश लकड़ी का चम्मच के आकार का हंस के मुख के समान बना हुआ पात्र जुहु या स्रुवा है इससे आज्य निकालने कार्य करते हैं।

२. आज्य—संस्कृत घृत को आज्य कहते हैं।

३. सान्नाय—दूध और दही को सन्नाय कहते हैं।

४. अवद्यति—पुरोडाश के भाग का ग्रहण करना।

करने का सामर्थ्य है कि अग्नि देवता को उद्देश्य करके पुरोडाशादि द्रव्य अलग करके निकाले। शब्दगत लिङ्ग प्रमाण के द्वारा उक्त मन्त्र निर्वाप का अङ्ग सिद्ध हुआ। जो मन्त्र जिस अर्थ को प्रकाशित करने में समर्थ होता है वहीं उसका अङ्ग कहा जाता है।

शब्दगत लिङ्गप्रमाण का एक अन्य उदाहरण देते हैं 'वर्हिर्देवसदनं दामि' कुशा का छेदन करके देवघर बनाने के अर्थ में इस मन्त्र का विनियोग होता है। शब्द का लिङ्ग सुनने मात्र से ही मन्त्र का विनियोग कर देते हैं उक्त मन्त्र कुश काटने का अङ्ग है 'उलप' काटने का अङ्ग नहीं है 'बर्हि दामि' यह लिङ्ग के श्रवण मात्र से कुशा की कटाई का बोध हो जाता है अर्थात् 'बर्हिः दामि' यह लिङ्ग कुशा की कटाई को व्यक्त करने में समर्थ है।

व्याख्या—इसी प्रकार दधि का विनियोग करना होगा तो दधिक्राव्णो इस मन्त्र का उच्चारण करके उसको ग्रहण करते हैं मन्त्र के अर्थ पर ध्यान नहीं देते इसी प्रकार अक्षत चढ़ाना हो तो अक्षत मन्त्र शब्दसामर्थ्य से बोल देते हैं, भले ही इसके अर्थ का विनियोग न हों।

अर्थसंग्रकार ने लिङ्ग प्रमाण की परिभाषा की है। शुद्ध सामर्थ्यं लिङ्गम्' शब्द की (अभिधान) शक्ति लिङ्ग है। भाट्टदीपिका में लिङ्ग का लक्षण किया है। लिङ्गं नाम 'अङ्गत्वघटकीभूतपरोद्देश्यकृतिकारकत्व-वाचकपदकल्पनानुकूला क्लृप्तपदपदार्थनिष्ठा योग्यता' जो शब्द शक्ति शब्द के रूढिगत अर्थ को प्रगट करती है या मुख्य अर्थ का बोध कराती है, उस शब्द शक्ति को अभिधा शक्ति कहते हैं, मीमांसक इसी को लिङ्ग कहते है शब्द अपने अर्थ में इतना रूढ़ होता हैं कि शब्द को सुनकर उसका अर्थ समझने में थोड़ा भी समय नहीं लगता। पङ्कज का कमल अर्थ रूढिगत हैं किन्तु कीचड़ में उत्पन्न होने वाला' यह इसका यौगिक अर्थ है। रूढ़िगत अर्थ को जो शब्द की अभिधा शक्ति व्यक्त करती है उसे ही लिङ्ग कहते है।

वर्हि का अर्थ होता है कुशा। कुशा के अर्थ में यह शब्द रुढ़ है न कि अन्य किसी अर्थ में, जैसे उलप तृण या पतलो आदि। अतः 'वर्हिदेव सदनं दामि,' यह मन्त्र लिङ्ग प्रमाण से ही कुश के काटने का अङ्ग बनता है।

१. 'कुशा एव वर्हिः शब्देन उच्यन्ते संस्काररहितेषु केवलेषु अपि वर्हिशब्द प्रयोगात्।''

वाक्यम्

पदान्तरसमभिव्याहारो वाक्यम्—यथा 'इँषेत्वेति छिनत्ति' इति। अत्र छेदनाङ्गत्वेन 'इषे त्वा' इति मन्त्रो वाक्येन विधीयते। यद्वा 'अग्नये त्वा जुष्टम्' इत्यत्रैव अग्नये त्वा जुष्टमित्यादीनां पदानां 'निर्वंपामि' इत्यनेनैकवाक्यतापन्नत्वान्निर्वापाङ्गत्वम्।

वाक्य प्रमाण

'पदान्तरसमभिव्याहारो वाक्यम्' एक पद का दूसरे पद के बिना किसी व्यवधान के कथन करना समभिव्याहार कहलाता है। जब कोई प्रधान वाक्य हो और कोई अङ्ग वाक्य हो और दोनों के बीच में किसी प्रकार का व्यवधान न हो उसे वाक्य प्रमाण कहते है। 'इषेत्वेति, छिनत्ति, यहाँ इषेत्वा यह मन्त्र वाक्य है तथा छिनत्ति यह अङ्ग वाक्य है। इस अङ्गाङ्गि वाचक दोनों पदों का बिना किसी व्यवधान के उच्चारण किया गया है। अतः 'इषेत्वेति छिनत्ति' यह वाक्य प्रमाण का उदाहरण है। इस मन्त्र का विनियोग छेदन कर्म के अङ्ग के रूप में होता है। इस प्रकार उक्त मन्त्र वाक्य प्रमाण के द्वारा छेदन कर्म का अंग बनता है।

यह शंका उठती है कि 'इषेत्वा' एक पद है 'इति' दूसरा पद और छिनत्ति तीसरा पद है, इस प्रकार इषेत्वा और छिनत्ति पद के बीच में इति का व्यवधान है, अतः यह वाक्य प्रमाण नहीं हो सकता तब इस मन्त्र को ब्राह्मण वाक्य कैसे मानेगे ? वस्तुतः 'इषेत्वेति' एक पद है न कि दो पद 'पदसमूहोवाक्यम्' और पद के समूह को वाक्य कहते हैं अतः 'इषेत्वेति छिनत्ति' यह वाक्य ब्राह्मण वाक्य का उदाहरण माना जाएगा।

वाक्य प्रमाण का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते है 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपाभि' इस मन्त्र में 'अग्नयेत्वा जुष्टम्' इत पदों का 'निर्वपाभि' इस पद के साथ बिना किसी व्यवघान के कथन किया गया हैं, अतः यह मन्त्र वाक्यप्रमाण का उदाहरण है। यह मन्त्र निर्वाप क्रिया का अंग है। 'अग्नते त्वा जुष्टम्' इत्यादि पदों का 'निर्वपाभि' इस पद के साथ एक वाक्यता होने के कारण हो यह मन्त्र निर्वाप क्रिया का अंग बनता है। 'निर्वाप' प्रधान पद है तथा 'अग्नये त्वा जुष्टम्' यह पद निर्वाप का अंग है

'अग्नयेत्वा जुष्टम्' इस पद को शेष तथा निर्वाप इस पद को शेषि भी कहते है।

व्याख्या—समभिव्याहारो वाक्यम्। समभिव्माहारश्च साध्यत्वादि-वाचकद्वितीयाद्यभावेऽपि वस्तुतः शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणम्। अर्थसंग्रह।

समभिव्याहार को वाक्य कहते हैं। अङ्ग और अङ्गी के वाचक पदों का एक साथ उच्चारण समभिव्याहार कहलाता है अर्थसंग्रहकार ने एक अन्य उदाहरण देकर वाक्य प्रमाण को स्पष्ट किया है 'यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न स पापं श्लोकं श्रृणोति' जो व्यक्ति पलाश की लकड़ी से जुहु नामक पात्र बनाता है वह अपयश नहीं सुनता। यहाँ पर्णता और जुहु का एक साथ उच्चारण हुआ है, बीच में कोई व्यवधान नहीं है, पर्णता जुहु का अंग हैं और जुहु अंगी है। इस प्रकार अंग और अंगी का एक साथ उच्चारण किया गया यह सर्मभिव्यवहार है अतः, इसे वाक्य-प्रमाण कहेंगे।

भाट्टदीपिकाकार ने वाक्य प्रमाण का लक्षण किया है—

वाक्यं नाम अङ्गत्वघटकीभूत, परोद्देश्यताकृतिकारकतान्यतरपदार्थ-कल्पनानुकूलः श्रुतपदसन्निधिः।

अङ्गत्व का घटक और परोद्देश्यकृति, इन दोनों में से किसी एक पदार्थ के कल्पना के अनुकूल श्रुत पद का कथन करना वाक्य प्रमाण होता है।

इस प्रसंग में यह समझ लेना आवश्यक है कि शेष, अङ्ग, गौण, साधन, विशेषण आदि पद समानार्थक हैं तथा शेषि अङ्गी प्रधान, साध्य, विशेष। आदि पद समानार्थक हैं।

आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा जाता है। किन्तु यहाँ वैदिक वाक्य प्रमाण के लिए दो बाते आव-श्यक हैं, एक तो वाक्य में निहित पदों को अर्थ बोध कराने के लिए एक साथ उच्चरित होना चाहिए और दूसरे उन पदों से अङ्ग-अङ्गी का ज्ञान होना चाहिए।

प्रकरणम्

प्रकरणं नाम परस्पराकाङ्क्षा—यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, इति। अत्र 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गापूर्व कुर्यात्' इत्युक्ते भवत्या-

काङ्क्षा—कथमाभ्यां स्वर्गापूर्वं कर्तव्यमिति। तथा फलवदाग्नेयादिसंनिधौ 'समिधो जयति', 'तनूनपातं जयति', 'आज्यभागौ यजति' इत्यादिभिः प्रयाजादयः फलरहिताः श्रुताः, तेषां स्ववाक्येषु फलाश्रवणाद्भवति प्रयोनाकाङ्क्षा—किमेतेषां प्रयोजनमिति। ततश्च प्रयाजादीनां प्रयोजनाकाङ्क्षायां दर्शपूर्णमासयोः कथंभावाकाङ्क्षायां परस्पराकाङ्क्षालक्षणेन प्रकरणेन प्रयाजादीनां सर्वेषां दर्शपौर्णमासाङ्गत्वं निश्चीयते।

प्रकरण प्रमाण

'प्रकरण नाम परस्पराकाङ्क्षा' अङ्ग और प्रधान इन दोनों के परस्पर आकाङ्क्षा को प्रकरण कहते हैं। जैसे 'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य से यह ज्ञात होता है कि दर्शपौर्णमास याग से स्वर्ग की कामना करें, किन्तु आकांक्षा होती है कि इन दोनों यागों से स्वर्ग के अपूर्व को कैसे उत्पन्न करे, यह 'कथं भावयेत्' कथं भावाकांक्षा होती है। दर्शकाल में सम्पन्न होने वाले आग्नेयादि तीनों याग तथा पौर्णमास काल में सम्पन्न होने वाले तीनों याग के द्वारा क्या फल मिलता है इसका कथन किया गया है किन्तु प्रयाजादि याग 'समिधोयजति', 'तनूनपातं यजति', 'इडो यजति' 'वर्हियजति' 'स्वाहाकार यजति' आदि पाँच प्रयाज तथा 'आज्यभागौ यजति' आदि यागों के करने से क्या फल मिलता है इसका कथन नहीं किया गया है अतः, प्रयाजादि यागों से सम्बन्धित वाक्यों में यह आकांक्षा होती है कि प्रयाजादि याग क्यों किया जाता है? इसका फल क्या है? इसका प्रयोजन क्या है? तब प्रयाजादि की फलाकांक्षा और शर्शपूर्णमास की कथं भावाकांक्षा की परम्पराकांक्षा को लेकर प्रकरण प्रमाण के द्वारा यह निश्चय किया जाता है कि प्रयाजादि सभो दर्शपौर्णमास के अंग है।

व्याख्या—वस्तुतः मीमांसा दर्शन में तीन प्रमुख प्रश्न हैं और उसका उत्तर ही मीमांसा दर्शन का आधार है। 'किं भावयेत्' 'कथं भावयेत्', 'केन भावयेत्' इसका विशद् विवेचन आर्थीभावना शाब्दी भावना के प्रसङ्ग में किया जाएगा।

दर्शपूर्णमासादि प्रधान वाक्य में फल का श्रवण है। किन्तु याग को कैसे किया जाय यह कथं भावाकांक्षा की पूर्ति नहीं होती। इसके विपरीत प्रयाजादि अङ्ग वाक्य में कथं भावयेत् कैसे किया जाय यह बताया गया है किन्तु फल के विषय में नही बताया गया है चूँकि प्रधान वाक्य दार्शपौर्ण

मासादि की कथं भाव की आकांक्षा को प्रयाजादि अङ्ग वाक्य पूरी करता है तथा प्रयाजादि अङ्ग वाक्य के फल की आकांक्षा को दर्शपूर्णमासादि प्रमुख वाक्य पूरी करता है, अतः यहाँ प्रधान वाक्य और अङ्ग वाक्य इन दोनों में उपकार्य—उपकारक भाव है। इसी को प्रकरण प्रमाण कहते है। प्रयाजादि अङ्ग है इसका बोध हमें यहाँ प्रकरण प्रमाण से होता है। अर्थसंग्रहकार ने प्रकरण की परिभाषा की है—

'उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्'

उपकारक और उपकार्य दोनों की परस्पर अपेक्षा प्रकरण है। उन्होंने प्रकरण का दो भेद किया है महाप्रकरण औरे अवान्तर प्रकरण।

जो पहले उदाहरण दिया गया है वह महाप्रकरण का उदारण है। महाप्रकरण प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि प्रयाजादि दर्शपौर्णमासादि के अङ्ग हैं। प्रयाजादि दर्शपौर्णमासादि के साक्षात् उपकारक होते हैं किन्तु प्रयाजादि के अङ्ग दर्शपौर्णमादि के साक्षात् उपकारक न होकर परम्परया अर्थात् प्रयाजादि के माध्यम से दर्शपौर्णमासादि के उपकारक होते हैं, अतः इनको अवान्तर प्रकरण कहते हैं।

भाट्टदोपिकाकार ने प्रकरण की निम्न परिभाषा की है।

'सन्निहितस्य फलवतोऽनवगताङ्गताकपदार्थविषये इतिकर्त्तव्यतात्वेनापेक्षणस्यैव प्रकरणपदार्थत्वात्।'

सन्निहित अङ्ग वाक्य के फल का ज्ञान नहीं होता तथा मुख्य वाक्य की इतिकर्तव्यता का ज्ञान नहीं होता इन दोनों की परस्पर आकांक्षा की जो पूर्ति करता है वह प्रकरण प्रमाण है।

स्थानम्

स्थानं नाम संन्निधिः; यथा सांनाय्यपात्रसंनिधौ 'शुन्धध्वम्' इति मन्त्रस्य पाठात् संनिधानात्सांनाय्यपात्रप्रोक्षणाङ्गत्वम्।

स्थान प्रमाण

स्थान का अर्थ होता है-सन्निधि अर्थात् जब एक पद का पाठ दूसरे पद के समीप में किया जाता है तब वह स्थान प्रमाण होता है। पाठ की दृष्टि से स्थान की समीपता स्थान प्रमाण है, जैसे—सन्नायपात्र को स्वच्छ करने की विधि के पास ही 'शुन्धध्वम्.....'यह मन्त्र पढ़ा गया है। प्रोक्षण कर्म के पास में उक्त मन्त्र पठित होने से स्थान प्रमाण के द्वारा उक्त मन्त्र सन्नायपात्र के प्रोक्षण का अङ्ग सिद्ध होता है।

व्याख्या—'देशसामान्यं स्थानम्' समान देशता स्थान प्रमाण है। एक विधि का जहाँ विनियोग किया जाता है और उसके समीप में ही जब दूसरी विधि का विनियोग किया जाता है तब वह स्थान प्रमाण होता है।

अर्थसंग्रहकार ने स्थान प्रमाण की परिभाषा की है--

स्थानं नामोपस्थितिः—स्थान का अर्थ है उपस्थित होना। अर्थात् जहाँ अनेक का अनुष्ठान प्राप्त हो वहाँ यह ज्ञात करना कि किस कर्म का अनुष्ठान पहले होगा और किसका बाद में, यह स्थान प्रमाण का कार्य है।

स्थान प्रमाण दो प्रकार का होता है—पाठ सादेश्य और अनुष्ठान सादेश्य। सादेश्य का अर्थ होता है, एक ही देश में रहना। यह एक देशता दो दृष्टि से हो सकती है—पाठ की दृष्टि से भी हो सकती है और अनुष्ठान की दृष्टि से भी हो सकती हैं। पाठ सादेश्य का अर्थ है कि एक स्थान पर पाठ किया गया हो। अनुष्ठान सादेश्य वह विधान है, जो पठित तो भिन्न-भिन्न स्थानों पर होता है किन्तु अनुष्ठान करते समय उनको एक साथ संकलित कर लिया जाता है।

पाठ सादेश्य का भी तीन भेद किया गया है—यथासंख्य, सन्निधि और अनुष्ठान।

भाट्टदीपिकाकार ने स्थान प्रमाण का निम्न लक्षण किया हैं—

इतिकर्त्तव्यतात्वेनायोग्य सम्बन्धयोर्वाक्यार्थयोः सन्निधिः' इति।

प्रयाजादि अङ्ग वाक्य और दर्शमौर्णमासादि प्रधान वाक्य इन दोनों योग्य सम्बन्धों की इतिकर्तव्यता के रूप में सन्निधि स्थान प्रमाण कहलाती है।

समाख्याप्रमाणनिरूपणम्

समाख्या यौगिकी संज्ञा; यथा अध्वर्युकाण्डप्रतिपादिते कर्मजाते आध्वर्यवसमाख्यावशादध्वर्योः कर्त्तृत्वेनाङ्गत्वम्, तथा 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्प्रजाकामः, इत्यादिषु काम्येष्टिसमाख्यातेष्वैन्द्राग्नादियागेषु काम्येष्टियाज्यानुवाक्याकाण्डसमाख्यावशात् 'उभा वामिन्द्राग्नी' इत्यादीनां याज्यानुवाक्यत्वेन विनियोगः। विनियोगो नामाङ्गत्वेनान्वयः।

संज्ञा-वाचक यौगिक शब्द समाख्या प्रमाण कहा जाता है अर्थात् शब्द और प्रत्यय इन दोनों के सम्मिलित अर्थ का बोध जिस शब्द से होता है वह यौगिक कहा जाता है। अध्वर्युकाण्ड में जो कर्म समुदाय का प्रतिपादन किया गया है वहाँ अध्वर्यु कर्त्ता है तथा अध्वर्यु अङ्ग है, इसका ज्ञान

हमें 'आध्वर्यव' इस संज्ञाभूत समाख्या प्रमाण से होता। अर्थात् 'आध्वर्यव' इम समाख्या प्रमाण से या इस संज्ञा भूत यौगिक शब्द से हमें पूरे कर्म-समुदाय का बोध होता है। इसी प्रकार 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः'' (प्रजा की कामना से एकादश कपालों मे पुरोडाश तैयार करके एन्द्राग्नि याग करना चाहिए।) काम्येष्टि याज्यानुवाक्याकाण्ड इस नाम से या इस संज्ञा से ऐन्द्राग्नि याग प्रसिद्ध है। इसलिए उस प्रकरण में आये दोनों ऐन्द्राग्नि याग भी 'याज्यानुवाक्या'[1] के रूप में विनियुक्त होते हैं। विनियोग का अर्थ होता है एक अङ्ग का दूसरे अङ्ग से उपकार करना।

अर्थसंग्रहकार ने समाख्या की परिभाषा की है—

समाख्या यौगिकः शब्दः। सा च द्विविधा—वैदिकी लौकिकी च।

यौगिक शब्द समाख्या है। वह समाख्या दो प्रकार की है वैदिकी और लौकिकी।

होतृचमस को वैदिकी समाख्या का उदाहरण बताया गया हैं। अध्वर्यु शब्द में तद्धित प्रत्यय लगाकर 'आध्वर्यवम्' बना है। 'अध्वर्यं करोति इति आध्वर्यवम्' अध्वर्यु, यजुर्वेद के पाठी को कहते हैं। यजुर्वेद के समस्त मन्त्रो के पाठ की क्रिया अथवा उससे संबंधित पदार्थो का अध्वर्यु अङ्ग होता है। जिस प्रकार ऋग्वेद के पदार्थों का अङ्ग होता, सामवेद का उद्गाता तथा अथर्ववेद का ब्रह्मा होता है।

होतृचमस वैदिकी समाख्या का उदाहरण है। चमस[2] का अर्थ है पात्र विशेष किन्तु लक्षणा से इसका अर्थ होता है कि चमस में रखे हुए सोम रस का भक्षण'। अतः यहाँ समाख्या प्रमाण से या यौगिक शब्द के कारण होता, चमस भक्षण रूप क्रिया का अङ्ग सिद्ध होता है।

जिस शब्द से शब्द एवं प्रत्यय इन दोनों के सम्मिलित अर्थ का बोध होता है उसे यौगिक कहा जाता है, जैसे—पाचक शब्द यौगिक है, पच् धातु में ण्वुल प्रत्यय लगने से बना हैं। पचि धातु का अर्थ है पाक और ण्वुल् प्रत्यय का अर्थ है—करने वाला। यहाँ दोनों अर्थों का एक साथ बोध होता है अतः पाचक यौगिक शब्द है। पाचक—पाक करने वाला।

---

१. याज्यानुवाक्या इस शब्द प र आगे विचार किया जाएगा।

२. सोम रखने के पात्र को चमस कहते हैं।

श्रुतिप्राबल्यविचारः

श्रुत्यादीनामेकत्र समावेशे पूर्वपूर्वस्य प्राबल्यम्, उत्तरोत्तरस्य दौर्बल्यम्। यथा—'कदाचन स्तरीरसि इत्यैन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्यग्निहोत्र प्रकरणे श्रूयते। तत्र मंत्रस्येन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरुपाल्लिङ्गादिन्द्रोपस्थानांगत्वे प्राप्ते 'ऐन्द्रया' तृतीयाश्रुत्या, गार्हपत्यम्' इति द्वितीयाश्रुत्या च गार्हपत्योपस्थानाङ्गत्वेन विधनाल्लैङ्गिकइन्द्रोपस्थाने विनियोगो बाध्यते। श्रुतिर्हि स्वतो विनियोजिका। लिगत्विन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यमालोच्य 'ऐन्द्रयेन्द्रमुपतिष्ठते' इति श्रुतिकल्पनाद्वारा विनियोजकमिति वाच्यम्, तच्चात्र न सम्भवति।

यत्र श्रुतिविनियोगो नास्ति 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इत्यादौ तत्र मंत्रस्य निर्वापप्रकाशनसामर्थ्यमालोच्य 'अनेन मंत्रेण निर्वापं कुर्यात्' इति श्रुतिकल्पना द्वारा लिङ्गम् विनियोजकं भवत्येव, श्रुतिकल्पनाप्रतिबन्धकाभावात्।

इस प्रसङ्ग में यह समझ लेना आवश्यक है कि जब इन ६ प्रमाणों में से दो प्रमाण कहीं किसी प्रसङ्ग में साथ-साथ आ जाते हैं और विरोध के रूप में समाविष्ट होते हैं, तभी उनके प्राबल्य और दौर्बल्य का विचार करना चाहिए, अन्यथा नहीं।

श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या इन ६ प्रमाणों का एक साथ सन्निवेश होने पर पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर के प्रति प्राबल्य होता है और उत्तर-उत्तर का पूर्व के प्रति दौर्बल्य होता है अर्थात् श्रुति और लिंग प्रमाण की एक स्थान पर एक विधान में प्राप्ति होने पर, बाद वाला लिङ्ग प्रमाण दुर्बल माना जाता है और पहले वाला श्रुति प्रमाण प्रबल माना जाता है। इसी प्रकार क्रमशः सभी प्रमाणों को समझना चाहिए। उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट करते हैं 'कदाचनस्तरीरसिनेन्द्र सश्चसि दाषुषे, इत्यैन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते।' यह मन्त्र अग्निहोत्र भाग के प्रकरण में कहा गया है 'हे इन्द्र तुम कभी भी घातक नहीं हो, अपितु होमकर्त्ता से प्रसन्न होते हो। इस मन्त्र में इन्द्र का सम्बोधन है तथा इसका अर्थ इन्द्र विषयक है, अतः इस ऋचा को ऐन्द्री कहा जाता है, किन्तु इस मन्त्र से यह बोध नहीं होता कि वह कौन सा याग है, जिसमें इस ऋचा का विधान हो। अतः लिङ्ग प्रमाण के द्वारा अर्थात् ऐन्द्रया इस तृतीया श्रुति

की कल्पना करके इस मन्त्र के द्वारा यह व्यक्त करते हैं कि इन्द्र का उपस्थान अर्थात् स्वागत करें। किन्तु यहाँ इस प्रसङ्ग में जब हमे कल्पित तृतीया श्रुति 'एन्द्रया की अपेक्षा पठित' गाहपत्यम् 'यह द्वितीया श्रुति प्राप्त' है तब हमें श्रुति प्रमाण को प्रबल मानकर ऐन्द्री ऋचा के द्वारा गार्हपत्य अग्नि की पूजा करनी चाहिए। यहाँ ऐन्द्री ऋचा अङ्ग है तथा गार्हपत्योपस्थान प्रधान है। इन दोनों में शेष-शेषि या अङ्ग-अङ्गि संबंध है इसका इन्द्रोपस्थान से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्र का उपस्थान या स्वागत ऐन्द्रया इस तृतीया विभक्ति की कल्पना करने से प्राप्त होता है अर्थात् लिङ्ग प्रमाण से प्राप्त होता है जबकि गार्हपत्य अग्नि की पूजा गार्हपत्यं इस पठित द्वितीया श्रुति या श्रुति प्रमाण से प्राप्त होता है। कल्पित लिङ्ग प्रमाण की अपेक्षा पठित श्रुति प्रमाण प्रबल है। अतः इस मन्त्र का विनियोग गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान या पूजा में करना चाहिए न कि इन्द्र की पूजा में। जहाँ श्रुति प्रमाण का विनियोग नहीं होता केवल लिङ्ग प्रमाण का ही विनियोग होता है वहाँ लिङ्ग प्रमाण को ही प्रामाणिक मानना चाहिए। जैसे 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इस मन्त्र में निर्वाप रूपी अर्थ प्रकाशन का सामर्थ्य है अतः 'अनेन मन्त्रेण निर्वपं कुर्यात्' यह कल्पित श्रुति है। यहाँ लिङ्ग प्रमाण पठित श्रुति है और स्वयं विनियोजक है अर्थात् लिङ्ग प्रमाण के द्वारा ही निर्वाप सम्भव है अतः श्रुति कल्पना यहाँ प्रतिबन्धक नहीं, श्रुति कल्पना के बिना भी केवल लिङ्ग प्रमाण से निर्वाप का विधान सम्भव हो जाता हैं।

पूर्व-पूर्व के द्वारा ही अंगाङ्गिभाव की आकांक्षा समाप्त हो गयी अतः, पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर बाधित हो जाता है।

मीमांसासूत्र में भी लिखा हैं—

श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।

अर्थात् श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन ६ प्रमाणों के एक साथ प्राप्त होने पर अर्थ की प्रमुखता की दृष्टि से पूर्व-पूर्व प्रबल और उनकी अपेक्षा उत्तर-उत्तर अर्थात् बाद वाला दुर्बल होता है। अर्थात् श्रुति प्रमाण और लिङ्ग प्रमाण एक विधान में प्राप्त हो तो श्रुति प्रमाण प्रबल और लिङ्ग प्रमाण दुर्बल माना जाएगा तथा लिङ्ग प्रमाण की अपेक्षा वाक्य प्रमाण दुर्बल माना जाएगा इसी क्रम से परस्पर छ हो प्रमाणों की प्रबलता और दुर्बलता समझना चाहिए।

**श्रुतिर्द्वितीया क्षमता च लिंग वाक्यं पदान्येव तु संहितानि।
सा प्रक्रिया या कथमित्यपेक्षा स्थानं त्रयो योगबलं समाख्या"**

भाट्टदीपिकाकार ने भी इस विषय पर विचार किया हैं।

'अत्र हि सर्वत्र उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वकल्पकत्वेन प्रामाण्यस्य तत्तन्निरुपणावसरे स्थापित्वादुत्तरोत्तरस्य श्रुतिकल्पनं यावदवगतस्यैव पूर्वपूर्वेण शेषशेषिणोर्निराकाङ्क्षत्वापादनेन बाधः।' पूर्व-पूर्व प्रमाण के द्वारा ही जब अङ्गाङ्गि भाव या शेष-शेषि भाव की आकांक्षा समाप्त हो जाती हैं तब उत्तरोत्तर प्रमाण का बाध होता हैं अर्थात् जब श्रुति प्रमाण से ही अङ्गत्व का बोध हो जाता हैं तब लिंग प्रमाण बाधित हो जाता हैं।

लिङ्गादिप्राबल्यविचारः

'तथा स्योनं ते सदनं कृणोमि' 'तस्मिन्सीद' इत्यत्र तस्मिन्निति तच्छब्दस्य पूर्ववाक्यार्थसापेक्षतया एकवाक्यत्वभानात् वाक्यप्रमाणेन द्वयोरेक मन्त्रत्वं भाति, लिङ्गेन भिन्नमन्त्रत्वं भाति। आद्यस्य सदनप्रकाशनसामर्थ्यात् 'तस्मिन् सीद' इत्यस्य सीदनप्रकाशकत्वात्। तत्र वाक्यापेक्षया लिङ्गस्य प्राबल्यात् वाक्यं बाधित्वा लिङ्गेन 'स्योनन्ते' इत्यस्य सदनाङ्गत्वम् 'तस्मिन् सीद 'इत्यस्य सादनाङ्गत्वमिति निर्णयः।

'स्योनन्ते' इत्यस्य 'तस्मिन् सीद' इत्यनेनैकवाक्यत्वबलात् यथाकथञ्चित् सादनसामर्थ्यरूपं लिङ्गं कल्पयित्वा 'अनेन विशिष्टमन्त्रेण सादनं कुर्याद् 'इति श्रुतिः कल्पनीया। सदनप्रकाशनरूपप्रत्यक्षलिङ्गेन कल्पितया' 'स्योनं ते इत्यनेन सदनं कुर्याद् 'इति श्रुत्या 'स्योनन्ते' इत्यस्य शीघ्रं सदने विनियोगे सति तेनैव मन्त्रस्य नैराकाङ्क्ष्यात् वाक्यप्रमाणात् लिङ्गं कल्पयित्वा श्रुतिकल्पना प्रतिबध्यते विलम्बितत्वादिति लिङ्गेन वाक्यस्य बाधः।

एवं वाक्येन प्रकरणस्य, प्रकरणात् क्रमस्य, समाख्यायाश्च बाधो वेदितव्यः तथा श्रुत्या वाक्यादेरपि बाधः। तदेवमङ्गताबोधकप्रमाणानि श्रुत्यादीनि निरूपितानि।

लिङ्गादि प्राबल्य विचार

अब यह विचार करते हैं कि जहाँ किसी विधान में लिङ्ग और वाक्य प्रमाण दोनों की एक साथ प्राप्ति होती है तब लिङ्ग प्रमाण को प्रबल और वाक्य प्रमाण को दुर्बल मानना चाहिए।

स्योनन्ते सदनं कृणोमि धृतस्य धारया सुषेवं कल्पयामि ? तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः। हे पुरोडाश ! तेरे लिए सुखकारी उत्तम स्थान बनाता हूं उस स्थान को धृत की धाराओं से सुखपूर्वक सेवन योग्य बनाता हूँ। हें व्रीहियों के सारभूत पुरोडाश ! तुम प्रसन्न मन होकर उस अमृतमय स्थान पर बैठो और प्रतिष्ठित हो और इस मन्त्र के विनियोग से संबंधित श्रुति न होने के कारण लिङ्ग से ही इस मन्त्र का विनियोग होता है।

यहाँ इस मन्त्र में दो वाक्य हैं—पहला वाक्य 'स्योनन्ते सदनं कृणोमि, सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेघ सुमनस्यमानः। हे पुरोडाश ! घृतस्य धारया सुषेवं कल्पयामि।' यह प्रथम वाक्य पूर्वार्धं का मन्त्र है जो पुरोडाश के बैठने का स्थान बनाने से सम्बद्ध हैं। दूसरा वाक्य 'तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः' उत्तरार्ध का मन्त्र है यह पुरोडाश स्थापन से संबंधित है। अर्थात् पूर्वार्ध सदन और उत्तरार्ध मन्त्र सादन रूप अर्थ प्रकाशित करने का या स्पष्ट करने का सामर्थ्य रखते हैं। दूसरे वाक्य उत्तरार्ध का तस्मिन् शब्द पूर्व वाक्य के तत् शब्द के साथ संयोग करके एक वाक्यता स्थापित कर रहा है। इस प्रकार पूर्वार्ध और उत्तरार्ध वाक्य अलग-अलग होने पर भी वाक्य प्रमाण के द्वारा एक प्रतीत होते है। किन्तु लिङ्ग प्रमाण के द्वारा पूर्वार्ध मंत्र सदन रूप अर्थं को प्रकाशित करता है और उत्तरार्ध मन्त्र पुरोडाश स्थापन रूप अर्थं को प्रकाशित करता है—लिङ्ग प्रमाण के द्वारा दोनों मन्त्र पृथक्-पृथक् अर्थं को प्रकाशित करते है तथा पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। अब प्रश्न उठता है कि लिङ्ग प्रमण के द्वारा दोनों को अलग-अलग मानना उचित है या वाक्य से पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मन्त्र को एक मानना उचित है ? तो समाधान करते हैं कि वाक्य प्रमाण और लिङ्ग प्रमाण के साथ प्राप्त होने पर वाक्य प्रमाण की अपेक्षा लिङ्ग प्रमाण बलवान होता है। क्योंकि वाक्य प्रमाण प्रमाणं में लिङ्ग प्रमाण और श्रुति दोनों की कल्पना करनी पड़ेगी जबकि लिङ्ग प्रमाण में केवल श्रुति की कल्पना करनी पड़ेगी।

लिङ्ग प्रमाण के द्वारा दोंनो वाक्यों को पृथक्-पृथक् रूप से जानकर ही हम उसको एक वाक्य के रूप में जान सकते है और लिङ्ग प्रमाण स्थापित करने के लिए श्रुति की कल्पना करनी पड़ती है, 'अनेन विशिष्ट मन्त्रेण सादनं कुर्यात्' इस श्रुति की कल्पना करने पर ही दोनो मन्त्र सदन

और सादन क्रिया के अङ्ग सिद्ध होते हैं। इस प्रकार वाक्य प्रमाण के द्वारा दोनों वाक्यों की एकवाक्यता स्थापित करके उक्त मन्त्र का सदन और सादन क्रिया के अङ्ग के रूप में विनियोग करने से कल्पना गौरव दोष हो जाता है।

इसकी अपेक्षा लिङ्ग प्रमाण मानने में प्रयत्न लाघव है। लिङ्ग प्रमाण स्थापित करने के लिए केवल श्रुति प्रमाण की ही कल्पना करनी पड़ती हे। 'स्योनन्ते इत्यनेन सादनं कुर्यात्' इस श्रुति की कल्पना करके प्रत्यक्ष लिङ्ग प्रमाण के द्वारा, दोंनों मन्त्र वाक्यों का विनियोग सदन और सादन रूप क्रिया का अङ्ग मानने में करते हैं। इस प्रकार वाक्य के बल से लिङ्ग की कल्पना, लिङ्ग से श्रुति की कल्पना में विलम्ब होता है और और लिङ्ग से श्रुति की कल्पना शीघ्रता से हो जाती है। अतः, लिङ्ग प्रमाण से वाक्य प्रमाण बाधित हो जाता है।

इसी प्रकार वाक्य प्रमाण के द्वारा प्रकरण प्रमाण का बाध हो जाता है। प्रकरण प्रमाण से क्रम या स्थान प्रमाण का बाध हो जाता है तथा स्थान प्रमाण के द्वारा समाख्या प्रमाण का बाध होता है। अङ्गता का बाध कराने वाले श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या इन प्रमाणों का क्रमशः बाध समझना चाहिए।

●

अथ अङ्गनिरुपणम्

अङ्गलक्षणम्

तच्चाङ्गत्वं शेषत्वम्। परार्थ्यमिति यावत्। परोद्देशेन प्रवृत्तिकृति-व्याप्यत्वं परार्थ्यम्। प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासोद्देशेन प्रवृत्तपुरुषकृतिव्या-प्यत्वात् लक्षणसंगतिः। दर्शादेः प्रयाजाद्युद्देशेन प्रवृतकृतिविषयत्वाभावा-न्नातिव्याप्तिः। केवल प्रयाजादीनुद्दिश्य कस्यचिदपि पुरुषस्याप्रवृत्तेः।

अङ्ग का लक्षण

अङ्ग, शेष या परार्थ ये तीनों पर्यायवाची हैं। परोद्देश अर्थात् प्रधान याग को उद्देश्य करके जो याग मनुष्य के द्वारा आनुषंगिक रूप से किया जाता है उसे 'परार्थ्य' कहते हैं या अङ्ग कहते हैं। जैसे दर्शपूर्णमास उद्देश्य करके मनुष्य जो प्रयाजादि करता है, वह अङ्ग है। प्रयाजादि में अङ्गत्व के लक्षण की संगति हो जाती है, क्योंकि इसमें कृति व्याप्यत्व आ जाता है अर्थात् दर्शपूर्णमास व्यापक और प्रयाजादि व्याप्य हुआ इसलिए इन दोनों में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। दर्शादि में इस लक्षण की अति-व्याप्ति नहीं होती क्योंकि दर्शादि का विधान प्रयाजादि को उद्देश्य करके नहीं होता अर्थात् प्रयाजादि को उद्देश्य करके कोई भी मनुष्य याग कर्म नहीं करता।

दर्शपूर्णमासादि याग में दर्शपूर्णमासादि प्रधान कर्म हैं और प्रयाज, अनुयाजादि अङ्ग कर्म हैं। प्रयाजादि अङ्ग कर्म का प्रयोग दर्शपूर्णमा-सादि मुख्य कर्म के सहायक के रूप में होता है। दर्शपूर्णमासादि के निमित्त प्रयाजादि कर्म किया जाता है, प्रयाजादि के निमित्त दर्शपूर्ण-मासादि कर्म नहीं किया जाता।[1]

सन्निपत्योपकारकाङ्गम्

तान्यङ्गानि द्विविधानि—सन्निपत्योपकारकाणि, आरादुपकारकाराणि चेति। यान्यङ्गानि साक्षात्परम्परया वा प्रधानयागशरीरं निष्पाद्य तद्द्वारा

---

१. शेषपदशक्यतावच्छेदकं अङ्गत्वम्। भाट्टदीपिका

२. अङ्गाङ्गितयोरवच्छेदकं अङ्गत्वम्। भाट्टदीपिका

तदुत्पत्त्यपूर्वोपयोगीनि तानि सन्निपत्योपकारकाणि। यथा व्रीह्यादिद्रव्याणि तत्संयुक्तावहननप्रोक्षणादीनि, अग्न्यादिदेवतात्तत्संयुक्तयाज्यानुवाक्या-वचनादीनि च। अत्र प्रोक्षणादेर्व्रीहिगतातिशयद्वारा अवहननादेस्तुषवि-मोकादिरूपदृष्टद्वारा, व्रीह्यादीनां पिष्टद्वारा पुरोडाशनिष्पादकत्वं तद्द्वारा यागशरीरतदुत्पत्त्यपूर्वोपयोगित्वञ्च। याज्यानुवाक्यादेर्देवतासंस्कार-द्वारा देवतायाश्च साक्षाद्यागशरीरनिर्वर्तकत्वं, तद्द्वारा तदुत्पत्त्यपूर्वो-पयोगित्वञ्च! यागस्य देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागरूपत्वात् 'द्रव्यदेवते हि याग-स्वरूपम्' इति सिद्धान्ताच्च। एतान्येव सामवायिकानीत्युच्यन्ते।

'सन्निपत्योपकारक-अङ्ग'

अङ्ग जो प्रधान कर्म के उपकारक हैं, वे दो प्रकार के होते हैं—१. सन्निपत्योपकारक २. आरादुपकारक।

सन्निपत्योपकारक अङ्ग

जो अङ्ग साक्षात् या परम्परया प्रधान याग के शरीर को उत्पन्न करते हैं तथा प्रधान याग के द्वारा तत्तत उत्पत्यपूर्व को उत्पन्न करते हैं वे सन्नि-पत्योपकारक अङ्ग कहे जाते हैं। जैसे व्रीहि आदि द्रव्य, तत्सम्बन्धी अवहनन प्रोक्षणादि क्रियायें, अग्नि आदि देवता तथा उससे सम्बन्धित याज्यानुवाक्यादि वचन या मन्त्र, ये सन्निपत्योपकारक अङ्ग कहे जाते हैं।

जैसे प्रोक्षणादि व्रीहिगत अतिशय के द्वारा तथा अवहननादि तुष विमोचन के द्वारा, तथा व्रीहि आदि पिष्ट के द्वारा पुरोडाश को उत्पन्न करके प्रधान याग के शरीर को उत्पन्न करते हैं जिससे उत्पत्यपूर्व उत्पन्न होता है तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अतः, इन्हें सन्निपत्योपकारक अङ्ग कहते हैं।

इसी प्रकार 'याज्यानुवाक्यादि' मन्त्र के द्वारा अग्नि देवता का संस्कार किया जाता है और पुनः अग्न्यादि देवता के द्वारा याग शरीर की निष्पत्ति होती है और उससे तत् तत् अपूर्व की उत्पत्ति होती है जो स्वर्ग रूप फल के लिए उपयोगी होते हैं। देवता को उद्देश्य करके अग्नि में द्रव्य के त्याग को ही याग कहते हैं। द्रव्य और देवता याग का स्वरूप है, ऐसा सिद्धान्त हैं। सन्निपत्योपकारक अङ्ग को सामवयिक भी कहते हैं।

---

१. पुरः यागात्पूर्वं देवतामनुकलयितुं (आह्वातुं) या ऋक् अनूच्यते सा पुरोऽनु-वाक्या अनुवाक्या इति चोच्यते। कात्यायन श्रौत सूत्र टिप्पणी।

व्याख्या—सन्निपत्योपकारक अङ्गों में क्रमशः द्रव्य, क्रिया, मन्त्र और देवता ये चार तरह के उदाहरण पाये जाते हैं।

द्रव्य—व्रीहि आदि द्रव्य साक्षात् या परम्परया याग के लिए उपयोगी हैं। अतः इन्हें सन्निपत्योपकारक कहते हैं।

क्रिया—प्रोक्षण, अवहनन और पेषण ये तीनों क्रियायें भी याग के लिए उपयोगी हैं, अतः इन्हें सन्निपत्योपकारक कहते हैं। व्रीहि का प्रोक्षण करते हैं अर्थात् जल से धान का सिंचन करके उसको धोते हैं या उसका संस्कार करते हैं। व्रीहि का अवहनन करते हैं अर्थात् व्रीहि को कूटकर उसकी भूसी निकालते हैं। पेषण करते हैं अर्थात् चावल को पीसकर उसका पुरोडाश बनाते हैं। ये तीनों ही कर्म साक्षात् या परम्परया प्रधान कर्म, याग के अङ्ग या उपकारक हैं। अतः, इन्हें हम सन्निपत्योपकारक अङ्ग कहते हैं।

देवता—अग्नि आदि देवता भी याग के सन्निपत्योपकारक अङ्ग हैं क्योंकि बिना देवता को उद्देश्य किए कोई भी हव्य द्रव्य हम अग्नि में नहीं डाल सकते। अतः देवता भी साक्षात् याग के लिए उपयोगी हैं।

मन्त्र—इसी प्रकार याज्यानुवाक्यादि मन्त्र भी याग के लिए उपयोगी होते हैं। बिना मन्त्र का विनियोग किए याग संभव ही नहीं है। 'होता' अग्नि आदि देवता का आह्वान करने के लिए याज्यानुवाक्यादि मन्त्र पढ़ता है और अध्वर्यु को क्रिया के लिए प्रैष देता है अर्थात् आज्ञा देता है।

सन्निपत्योपकारक अंग में द्रव्य, क्रिया, देवता और मन्त्र ये चारों सम्मिलित रहते हैं अतः, सन्निपत्योपकारक अङ्ग को सामवयिक भी कहते हैं।

अर्थसंग्रहकार ने सन्निपत्योपकारक की परिभाषा की है।

'कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म सन्निपत्योपकारकम्' प्रधान कर्म के अङ्गभूत द्रव्य को लक्ष्य करके किया जाने वाला कर्म सन्निपत्योपकारक कहा जाता हैं। जैसे—अग्निहोत्र याग है—इसका अङ्गभूत द्रव्य है–व्रीहि–उसका प्रोक्षण (धोना) अवहनन (कूटकर भूसी निकालना) पेषण (पीसना) ये सभी कर्म सन्निपत्योपकारक कहे जाते हैं। सन्निपत्योपकारक का तीन भेद किया गया है।

१. **दृष्टार्थ**—जिसका फल साक्षात् दिखाई पड़ता है वह दृष्टार्थ सन्निपत्योपकारक है। जैसे—अवहनन क्रिया दृष्टार्थ है क्योंकि व्रीहि कूटने से तत्काल साक्षात् भूसी निकल जाती हैं, उसका फल तुरन्त मिल जाता है और दिखाई देता है।

२. **अदृष्टार्थ**—इसका उदाहरण हैं प्रोक्षण कर्म। व्रीहि कोधो कर उसका जो संस्कार करते हैं उसका फल साक्षात् नहीं दिखाई पड़ता इससे अलौकिक प्रयोजन सिद्ध होता है। प्रोक्षण कर्म के द्वारा व्रीहि का संस्कार करने से विशेष अपूर्व की उत्पत्ति होती हैं, जिसका फल दिखाई नहीं देता।

३. **दृष्टादृष्टार्थ**—पशुपुरोडाशादि दृष्टादृष्टार्थ हैं। पशु होम और पुरोडाश होम में, अग्नि में जो हवि डालते हैं उस हवि प्रक्षेप से एक अपूर्व पैदा होता है, यह अपूर्व प्रत्यक्ष नहीं दिखाई पड़ता। अतः, इस दृष्टि से यह अदृष्टार्थ है, किन्तु 'यह वस्तु इस देवता को प्राप्त हो' इस वचन के द्वारा जब देवता का स्मरण करते हैं तब देवता के स्मरण का अनुभव प्रत्यक्ष होता है। अतः इस दृष्टि से यह दृष्टार्थ है। अंशतः दृष्टार्थ और अंशतः अदृष्टार्थ होने से इसे दृष्टादृष्टार्थ उभय रूप मानते हैं।

सन्निपत्योपकारक को 'आश्रयिकर्माणि' भी कहा गया है। सन्निपत्योपकारक संस्कार शुद्धता या योग्यता लाने वाले संस्कार हैं। सन्निपत्योपकारक आरादुपकारकों से अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होते हैं, इसीलिए तन्त्रवार्तिक में प्रस्तावित किया गया हैं कि जहाँ किसी कृत्य में कोई कार्य सन्निपत्योपकारक या सामवयिक होता है वहाँ उसे आरादुपकारक कहना उचित नहीं।[1]

आरादुपकारकमङ्गम्

आत्मसमवेतापूर्वजनकान्यारादुपकारकाणि। यथा प्रयाजाज्यभागानुयाजादीनि। एतानि द्रव्यगतं देवतागतं वा संस्कारं न जनयन्ति। किन्त्वात्मगतमदृष्टं जनयन्ति इत्यारादुपकारकाणि।

आरादुपकारक अङ्ग

जो अङ्ग आत्मा में समवेत रहने वाले अपूर्व को उत्पन्न करते हैं वे आरादुपकारक होते हैं। जैसे—प्रयाज, आज्यभाग और अनुयाजादि।

१. धर्मशास्त्र का इतिहास पी० वी० काणे पञ्चम भाग

आरादुपकारक द्रव्यगत या देवतागत संस्कार को न उत्पन्न करके आत्मगत अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं।

व्याख्या—'आरादुपकारक ऐसे व्यवस्थित कृत्य है जो द्रव्यों के विषय में कुछ नहीं करते सीधे प्रमुख कृत्य के अङ्ग माने जाते हैं। इनसे यज्ञ में दिये जाने वाले द्रव्य के संस्कार (अलंकरण या योग्य बनाना या शुद्ध करना) से कोई सम्बन्ध नहीं है, ये उस परमापूर्व को उत्पन्न करते हैं जो सम्पूर्ण कृत्य के फल को उत्पन्न करते हैं। वे स्वयं अपने लिए एक गौण अपूर्व को उत्पन्न करते हैं। ये प्रमुख कृत्य के प्रत्यक्ष अंग हैं।'[1]

प्रोक्षण, अवहनन और पेषणादि द्रव्यगत संस्कार करते हैं तथा याज्यानुवाक्यादि' मन्त्र देवतागत संस्कार करते हैं; किन्तु प्रयाजादि याग न तो देवता का संस्कार करते हैं न द्रव्य का बल्कि ये आत्मा में रहने वाले अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं।

'द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आरादुपकारकम्' ऐसा अर्थसंग्रहकार ने लक्षण किया है। द्रव्यादि को लक्ष्य न करके केवल सम्पाद्यमान कर्म आरादुपकारक कहे जाते हैं।

आरात् 'दूर समीपयोः' आरात् शब्द से दोनों अर्थ ग्रहण होता है। प्रयाजादि दूर रहकर आत्मगत अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं यह अर्थ किया जाता है तथा आरादुपकारक अङ्ग निकट पहुँचकर आत्मगत अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं जिससे प्रधान याग के शरीर का निष्पादन होता है।

अङ्गों का अन्य प्रकार से भी भेद किया जाता है।

१. **सिद्धरूप**—उसे कहते हैं—जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है। सिद्धरूप अंग के अन्तर्गत पशु आदि जाति, व्रीहि आदि द्रव्य और एकत्वादि संख्या आती है।

२. **क्रियारूप अंग**—इसके अन्तर्गत प्रधान कर्म और गुण कर्म आते हैं। गुणकर्म सन्निपत्योपकारक अंगों को कहते हैं। इसके भी दो भेद होते हैं। उपयुक्त संस्कारक और उपयोक्ष्यमाण संस्कारक जिसके विषय में आगे विचार किया जायेगा।

प्रधान कर्म को ही अर्थकर्म कहते हैं, ये आत्मगत अदृष्ट के जनक होते हैं अतः, इन्हें आरादुपकारक अङ्ग कहते हैं। इसके भी तीन भेद होते हैं

१. धर्मशास्त्र का इतिहास पञ्चम भाग पी. बी. काणे।

दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ और दृष्टादृष्टार्थ, जिस पर पहले विचार किया जा चुका है।

कर्मभेद विचारः

तत्र सामान्यतः कर्म द्विविधम्—अर्थकर्म, गुणकर्म चेति। तत्रात्मगतापूर्वजनकं कर्म अर्थकर्म। यथा—अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासप्रयाजादिकम्।

गुणकर्मसंस्कारजनकम्। तच्च द्विविधम्—उपयुक्तसंस्कारकम्, उपयोक्ष्यमाणसंस्कारकञ्चेति। तत्र उपयुक्तसंस्कारकं प्रतिपत्तिकर्म। उपयुक्तस्य अकीर्णकरस्य द्रव्यस्य विहितदेशे, प्रक्षेपः प्रतिपत्तिरिति लक्षणात्। यथा इडाभक्षणकृष्णविषाणाप्रासनचतुरवत्तहोमादिकम्।

नन्विडाभक्षणस्य प्रधानयागोपयुक्ताकीर्णकरपुरोडाशद्रव्यप्रक्षेपात्मकत्वात्प्रतिपत्तित्वं युक्तम्। होमस्य तु यागोपयुक्तद्रव्यसंस्कारकत्वाभावात्कथं प्रतिपत्तित्वम्, ? होमस्य यागसमकालीनत्वेन होमसंस्कार्यस्य चतुरवत्तादेरुपयुक्तत्वाभावादितिचेत्।

कर्मभेद का विचार

ब्राह्मण वाक्य के द्वारा प्रतिपादित कर्म सामान्यतः दो प्रकार का होता है। अर्थ कर्म और गुण कर्म।

अर्थ कर्म—जो कर्म आत्मगत अपूर्व को उत्पन्न करता है उसे अर्थ कर्म कहते हैं। जैसे, अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास। इन प्रधान यागों में प्रयाजादि अङ्गभूत याग आत्मगत अपूर्व को उत्पन्न करते हैं। अतः इन्हें अर्थ कर्म कहते हैं। इसी को आरादुपकारक अङ्ग भी कहते हैं।

गुण कर्म—जो कर्म संस्कार को उत्पन्न करते हैं उन्हें गुणकर्म कहते हैं; जैसे, व्रीहि का प्रोक्षण गुण कर्म हैं क्योंकि व्रीहि का जल से सिंचन करके उसको धोकर उसका संस्कार करते हैं। जिस कर्म से किसी वस्तु में विशेष गुण आ जाता है या उसका संस्कार हो जाता है उसे गुणकर्म कहते हैं।

व्याख्या—यहाँ अर्थकर्म और गुणकर्म में यह अन्तर समझ लेना चाहिए कि अर्थकर्म में कर्म प्रधान होता है और द्रव्य अङ्गभूत होता है जैसे—प्रयाज, अनुयाज आदि अर्थकर्म हैं क्योंकि प्रयाजानुयाजादि कर्म प्रधान हैं न कि द्रव्य प्रधान। इसके विपरीत गुणकर्म में, द्रव्य या गुण प्रधान होता है, कर्म गौण या अङ्गभूत हो जाता है जैसे—'दध्ना जुहोति' में दधि गुण प्रधान है तथा जुहोति कर्म गौण हो गया है।

गुण कर्म के भेद

गुणकर्म के दो भेद होते हैं—उपयुक्त संस्कारक तथा उपयोक्ष्यमाण संस्कारक।

उपयुक्तसंस्कारक

उपयुक्त संस्कारक को प्रतिपत्ति कर्म भी कहते हैं। उपयुक्त द्रव्य का अर्थात् अकीर्णकर[1] द्रव्य का विहित प्रदेश में अर्थात् वेदोक्त विधान के अनुसार स्थान विशेष में प्रक्षेप या फेकना ही प्रतिपत्ति कर्म है। याग करते समय जब किसी वस्तु का उपयोग हो जाता है और उसका पुनः उपयोग नहीं करना होता है तो वह वस्तु यज्ञ मण्डप में व्यर्थ ही पड़ी रहती है तथा व्यवधान पैदा करती रहती है अतः, वेदों में उसको किसी स्थान विशेष में फेंकने का विधान है; इसी को प्रतिपत्ति कर्म कहते हैं।

याग कर्म में उपयोग आने के बाद बची हुई चीजों को वेदोक्त विधि से कैसे कहाँ व्यवस्थापित करते हैं, इसी को प्रतिपत्ति कर्म कहते हैं। यहाँ इस प्रसंग में प्रतिपत्तिकर्म का तीन उदाहरण दिया गया है।

१. इडा भक्षण. २. कृष्णविषाणाप्रासन, ३. चतुरवत्तहोमादि।

इडा भक्षण[2] जब प्रधान याग व पुरोडाश का प्रयोग हो जाता है तब उसके बाद का बचा हुआ अकीर्णकर (व्यर्थ) पुरोडाश द्रव्य (इडा) का वेदोक्त विधि से संस्कार करना प्रतिपत्ति कर्म कहा जाता है।

व्याख्या—पञ्चमाः इडां भक्षयन्ति' ऐसा विधान किया गया है

---

१. अकीर्णकर—शास्त्रदीपिका में लिखा है

कृतामपि तु द्रव्यं अकीर्णकरमुच्यते।

जिस वस्तु का उपयोग हो चुका है और व्यर्थ में यज्ञमण्डप में पड़ी ऋत्विजों के प्रधान कार्य में बाधा पहुँचाती हैं उसे अकीर्णकर कहते हैं।

२. प्रधानयागसमनन्तरं इडापत्र्यां विधिनागृहीतं अवशिष्टं हविः। पुरोडाश का प्रधान याग के समय जितना उपयोग करना होता है उसके करने के बाद बचा हुआ द्रव्य इडा कहलाता है। यज्ञ समाप्त होने पर वह वहाँ व्यर्थ में पड़ी रहती है अतः, अकार्णककर कही जाती है।

स्थालीपाक क्रिया के द्वारा बने हुए, पुरोडाश को इडा कहते हैं।

बची ईडा को चार अध्वर्यु और एक यजमान को प्रसाद के रूप से खिलाते हैं।

दूसरे उदाहरण कृष्णविषाणाप्रासन को स्पष्ट करने के पूर्व तीसरे प्रतिपत्तिकर्म चतुवत्तहोमादि के विषय में शंका उठाकर कि यह प्रतिपत्तिकर्म नहीं हैं उसका समाधान करते है और समाधान करते समय प्रतिपत्ति कर्म की परिभाषा स्पष्ट करते हैं।

इडा के अकीर्णकर होने से या व्यर्थ होने से मुख में प्रक्षेपण हुआ अतः, वह प्रतिपत्ति कर्म है; किन्तु चतुरवत होम प्रतिपत्ति कर्म नहीं हो सकता क्योंकि इसका उपयोग पहले प्रधान याग कर्म के निमित्त नहीं हुआ है तब यज्ञ के अन्त में चतुरवत्त होम के संस्कारित होने का प्रश्न नहीं उठता। चतुरवत्त होम अर्थात् चतुरवत्त द्रव्यों का विनियोग प्रधान याग का समकालीन है अर्थात् इसमें उपयुक्तता का अभाव है अतः, इसे प्रतिपत्ति कर्म नहीं कह सकते।

प्रतिपत्तिकर्मस्वरूपम्

अत्राहुः—उपयुक्तसंस्कारमात्रं प्रतिपत्तिः, न तु प्रधानयागोपयुक्तत्वम्। तथा सति पशोर्विशसनानन्तरं वपाहृदयाद्युद्धरणकालकर्त्तव्यलोहितशकृन्निरसनस्य प्रतिपत्तित्वाभावप्रसङ्गात्—यागोपयुक्तद्रव्यप्रक्षेपरूपत्वाभावात्। तथा कृष्णविषाणाप्रासनस्यापि प्रतिपत्तित्वं न स्यात्, यागाङ्गभूतकण्डूयनोपयुक्तत्वेऽपि यागोपयुक्तात्वाभावात्। अतो यत्र क्वचनोपयोगमात्रं विवक्षितम्। यत्र क्वचिदुपयोगस्त्वत्राप्यस्ति, वपाहृदयाद्युद्धरणेनोपयुक्तस्य पशोः सम्बन्धिनः शकृल्लोहितस्य अकीर्णकरस्य प्रतिपत्त्यपेक्षत्वात्। एवं यथाकथञ्चिदुपयोगो होमस्थलेऽप्यस्ति।

प्रतिपत्तिकर्म का स्वरुप

उपरोक्त शंका का समाधान करने के लिए प्रतिपत्ति कर्म का पुनः लक्षण करते हैं। उपयुक्त संस्कार मात्र प्रतिपत्ति कर्म है। प्रतिपत्ति कर्म को परिभाषा में जो मात्र शब्द का प्रयोग किया गया है कि क्वचिन् उपयोग मात्र से भी प्रतिपत्तिकर्म माना जाएगा अर्थात् यज्ञ के निमित्त इसका पूरा उपयोग न हुआ हो किन्तु थोड़ा बहुत भी उसका उपयोग हुआ हो और अब वह व्यर्थ हो उसकी कोई आवश्यकता न हो तो उस अकीर्णकर द्रव्य का वेदोक्त विधि से प्रक्षेप ही प्रतिपत्ति कर्म कहा जाता है।

व्याख्या—ऐसा लक्षण करने से चतुरवत्त होम में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। चार क्रियावों द्वारा संस्कृत द्रव्य को चतुरवत्त होम कहते हैं।

१. सकृदुपस्तृणाति—एक बार श्रुवा में में घी लगाना।

२-३. द्विर्हविषोऽवद्यति—स्फ्य[1] से दो बार हविष् द्रव्य पुरोडाश को काटना।

४. सकृदभिघारयति एक बार पुनः पुरोडाश का घी से सिंचन।

चतुरवत्तञ्जुहोति-उपस्तरणादि वाक्यों से प्राप्त चतुरवत्त द्रव्य को उद्देश्य करके 'जुहोति' इस पद से संस्कार रूप में प्रक्षेप किया जाता हैं। इस प्रकार चतुरवत संस्कार का क्वचित् उपयोग होता ही हैं और साथ ही वेदोक्त विधि से उसका प्रक्षेपण भी होता हैं। अतः, यह प्रतिपत्ति कर्म हैं।

पशु हिंसा के बाद पशु की वपा और हृदय का उद्धार किया जाता हैं अर्थात् यज्ञ के आहुति के निमित्त उसका उपयोग किया जाता हैं। इसके बाद बचे हुए खून शकृत (मल विष्ठा) आदि के निरसन (फेकने) रूप कार्य को प्रतिपत्ति कर्म नहीं कह सकते क्योंकि लोहित और शकृत का प्रधान याग में किसी भी तरह से उपयोग नहीं होता।

इसी प्रकार कृष्णविषाणाप्रासन[2] आदि भी प्रतिपत्ति कर्म नहीं हो

---

१. स्फ्य लकडी का बड़ा पलटे के आकार का पात्र जो पुरोडाश काटने के काम आता है।

२. कृष्णविषाणा कहते हैं—काले मृग के सींग को-जो यज्ञ करते समय अङ्ग खुजलाने के काम में आता है। ज्योतिष्टोम याग करते समय यजमान के पूरे हाथ में कपड़ा बाँध दिया जाता हैं, मात्र अङ्गुली दिखाई देती रहती है। उस समय यज्ञ करते समय यजमान काले मृग की सहायता से अङ्ग खुजलाता है। यज्ञ का कार्य समाप्त होने पर उस मृग की अब उपयोगिता नहीं रह जाती अतः, उसको चात्वाल नामक गर्त में फेंक देते हैं। यज्ञमण्ड़प के समीप बने हुये गढ्ढे को चात्वाल कहते है। वेदोक्त विधि से यह प्रक्षेपण रूप कर्म प्रतिपत्ति कर्म कहलाता है। कहा भी गया है—

''कृष्णविषाणा कण्डूयति, नीतासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणा कृष्ण विषाणया कण्डूयतीति तृतीयाश्रुत्या यजमानाशिरः कण्डूयतावुपयुक्तस्य कृष्णविषाणस्य प्रतिपत्यपेक्षत्वात्। न च प्रतिपत्तिकर्मत्वेऽत्यन्तमपूर्वाभावः। चात्वाल एव प्रासनमित्येवं विधस्य नियमस्य वैधत्वेन प्रासनक्रियाप्रयुक्तापूर्वाभावेऽपि नियमापूर्वसद्भावात्। तस्मात्प्रासनं प्रतिपत्तिकर्मेति।

मीमांसा अर्थसंग्रहकौमुदी

सकते क्योंकि कृष्ण विषाण का उपयोग याग के अङ्गभूत (सहायक) कण्डूयन (खुजलाने) में होता है। किन्तु प्रधान याग के निमित्त इसका उपयोग नहीं है। अतः यह प्रतिपत्ति कर्म नहीं हो सकता।

इस प्रकार से अन्य दो शंकाये उठाकर समाधान के रूप में प्रतिपत्ति कर्म की परिभाषा या उसके स्वरूप की पुष्टि करते हैं कि प्रधान याग में उनका उपयोग मुख्य रूप से न हुआ हों किन्तु यदि थोड़ा बहुत भी किसी प्रसंग में उसका प्रक्षेप किया जा रहा हो तो उसे प्रतिपत्ति कर्म कहेंगे।

व्याख्या—पशु की वपा और हृदय का उपयोग प्रधान याग में किया जाता है। उसके बाद बचे हुए लोहित और शकृत का उपयोग याग के निमित्त भले ही न हुआ है किन्तु ये उसी पशु से सम्बन्धित अकीर्णकर द्रव्य है जिसका उपयोग प्रधान याग में हुआ है और साथ ही वेदोक्त विधि से उसको फेंका भी जाता हैं। अतः क्वचित् मात्रोपयोग से उसे प्रतिपत्ति कर्म मान लेते हैं। 'शकृत्सम्प्रवद्यति' 'लोहितं निरस्यति' मल-निस्सारण और रक्त निस्सारण रूप प्रतिपत्ति कर्म का उल्लेख आया है। इसी प्रकार कृष्ण मृग के कण्डूयन का कुछ प्रयोग तो याग में है ही और बाद में उपयोगिता समाप्त होने पर वेदोक्त विधि से 'चात्वाल' में उसके फेंकने का विधान भी है अतः, यह प्रतिपत्ति कर्म है। इस प्रतिपत्ति कर्म में अपूर्व का अत्यन्ताभाव नहीं है। वेदोक्त विधि से कृष्ण मृग को चात्वाल में फेंकने रूप क्रिया में अपूर्व का अभाव है किन्तु वहाँ पर नियमापूर्व हैं अतः, प्राशन क्रिया को (चात्वाल में कृष्ण मृग के फेकने) की क्रिया को प्रतिपत्ति कर्म कहते हैं।

अनुवाद—इसो प्रकार चतुरवत्त होम स्थल में भी प्रधान याग में कथञ्चित् उपयोगिता की दृष्टि से उसे प्रतिपत्ति कर्म कहते हैं। जिसका वर्णन किया जा चुका है।

तद्भेदाः

तथाहि प्रतिपत्तिस्त्रिधा—प्रधानोत्तरकाला, प्रधानसमकाला, प्रधान-पूर्वकाला चेति। अत्र आद्या इडाभक्षणादिका, द्वितीया होमादिका। तथाहि—दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रूयते 'सकृदुपस्तृणाति' 'द्विर्हविषोऽवद्यति' 'सकृदभिधारयति' 'चतुरवत्तञ्जुहोति'। तत्र चतुरवत्तवाक्ये होमानुवादेन चतुरवत्तद्रव्यतत्साधनत्वेन न विधीयते, होमस्याप्राप्तत्वेनानुवादा-संभवात्।

प्रतिपत्ति कर्म के भेद

प्रतिपत्ति कर्म के तीन भेद हैं—

प्रधानोत्तर काला, प्रधान समकाला और प्रधानपूर्वकाला

प्रधानोत्तरकालिक प्रतिपत्ति कर्म—जो प्रतिपत्ति कर्म प्रधान याग के बाद में किए जाते हैं उन्हें प्रधानोत्तरकालीन प्रतिपत्ति कर्म कहते हैं। इडाभक्षण का कार्य प्रधान याग के उत्तर में होता है अतः, यह प्रधानोत्तरकालीन प्रतिपत्ति कार्य का उदाहरण है।

प्रधान समकालिक प्रतिपत्तिकर्म—चतुरवत्त होम को प्रधान समकालिक प्रतिपत्ति कर्म का उदाहरण मानते हैं। चतुरवत्तञ्जुहोति यह होमादिक वाक्य प्रधान याग का समकालिक है। दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में यह आता है कि—'सकृदुपस्तृणाति' 'द्विर्हविषोऽवद्यति' 'सकृदभिधारयति' ऐसा कहा गया है जिसका अर्थ होता हैं—पुरोडाश का एक बार उपस्तरण, फैलाना, दो बार अवदान[1] करना अर्थात् अंगूठे के बराबर-बराबर लम्बे व चौड़े पुरोडाश के टुकड़ों को स्फ्य[2] से काटकर अग्नि में डालना और अभिधारण का अर्थ है :—एक बार पुनः पुरोडाश द्रव्यों में अभिधारण अर्थात् घी से सिंचन; ये चारो मिलकर चतुरवत्त कहलाते हैं।

व्याख्या—प्रधानपूर्वकालिक प्रतिपत्ति कर्म के अन्तर्गत पशु बलि में वपा और हृदय के उद्धरण के बाद शकृत् और लोहित का निरसन रूप कर्म आता है क्योंकि यह कर्म प्रधानयाग (अश्वयाग) के पूर्व में ही सम्पन्न किया जाता है। जिसका विचार आगे किया गया है।

यहाँ इस प्रसङ्ग में शङ्का समाधान के द्वारा होम और याग का शब्दार्थ स्पष्ट करते हैं और पुनः प्रधानपूर्वकालिक प्रतिपत्ति कर्म पर विचार करेंगे।

शङ्का यह उठाते हैं कि चतुरवत्त वाक्य में होम का अनुवाद करके चतुरवत्त द्रव्य का उसके साधन के रूप में विधान नहीं कर सकते; क्योंकि यहा इस वाक्य में होम की प्राप्ति ही नहीं हैं तो उसका अनुवाद कैसे करेंगे? इसका समाधान करते समय होम और याग में भेद स्पष्ट करते हैं—

---

१. आग्नेयस्य पुरोडाशस्य मध्यादंगुष्ठपर्वद्वयमात्रमवदानम्।

२. हाथ के आकार का लकड़ी का बना आयुध है।

यागहोम शब्दार्थ विचारः

"न च यदाग्नेयवाक्याद्धोम प्राप्तिः; तद्वाक्यस्य यागविधायकत्वात्। न च यागहोमयोरभेद इति वाच्यम्। देवतोद्देशेनद्रव्यत्यागस्य यागशब्दार्थत्वात्, प्रक्षेपविशिष्टस्य यागस्य होमशब्दार्थत्वात्। तत्राग्नेय चोदनया यागस्य प्राप्तत्वेऽपि प्रक्षेपस्य शक्त्याऽप्राप्तत्वेनानुवादासंभवात्, किन्तुपस्तरणद्विरदानाभिधारणवाक्यैः प्राप्तं चतुरवत्तमुद्दिश्य तत्संस्कारत्वेन प्रक्षेपो जुहोतीत्यनेन विधीयते। स च संस्कारः प्रतिपत्तिरूप एव। 'अग्नये जुष्टमभिधारयामि इत्यादि निर्देशैर्यागांगभूताग्न्यादिदेवतार्थतया यथाकथञ्चिदुपयुक्तस्य पुरोडाशस्य प्रतिपत्त्यपेक्षया तदवयवद्व्यवदानकर्मणः पक्षेपस्य प्रतिपत्तिकर्मत्वौचित्यात्।

स च संस्कारः प्रधानसमकालः। 'होमो हि 'वषट् कृते जुहोति' इति विधानात्—वषट् कारोत्तरक्षणे अध्वर्युण कर्त्तव्यः यागोऽपि तस्मिन्नेव क्षणे, यागस्य स्मरणार्थेन वषट् कारेण स्मारितः सन् यजमानेनानुष्ठेय इति तयोर्यौगपद्यसम्भवात् तदिदं सर्वप्रदानाधिकरणवार्तिके स्थितम्।

याग और होम शब्दार्थ विचार

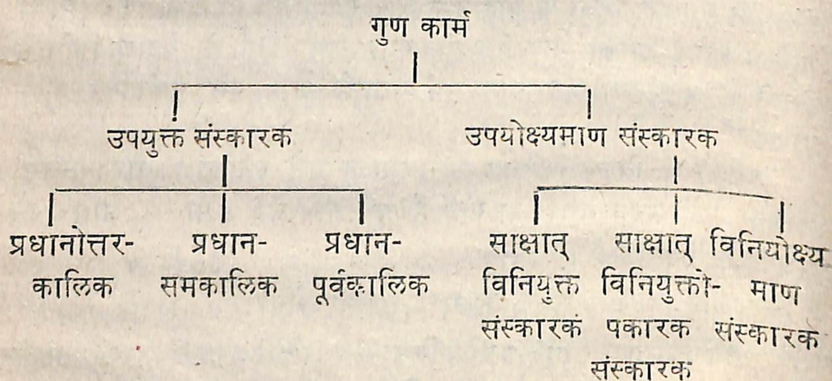
यदि कोई यह कहता है कि 'यदग्नये जुष्टमभिधारयामि' इस वाक्य में होम की प्राप्ति है, उसी का चतुरवत्त वाक्य से अनुवाद किया गया है, तो ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि यदग्नये—यह वाक्य याग का विधान करता है होम का विधान नहीं करता है। यदि कोई यह कहता हैं कि याग और होम एक ही हैं, दोनों अभिन्न हैं तो ऐसा कहना ठीक नहीं हैं। याग और होम दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। याग कहते हैं 'देवतोद्देशेनद्रव्यत्यागः' देवता को उद्देश्य करके द्रव्य का त्याग करना और उन द्रव्यों का प्रक्षेप विशिष्ट कर्म 'होम' कहलाता है। प्रक्षेप का विनियोग करना होम कहलाता है अर्थात् अङ्ग संबंधी कृत्यो के विधान को होम कहते।

'आग्नेयोऽष्टकपाल' इस आग्नेय विधि वाक्य से भी याग की ही प्राप्ति होती हैं होम की प्राप्ति नहीं होती। शक्तिवृत्ति से भी प्रक्षेप विशिष्ट याग अर्थात् होम को प्राप्ति नहीं होती तब शङ्का उठती है कि चतुरवत्तञ्जुहोति वाक्य के द्वारा चतुरवत्त होम का विधान कैसे किया जाता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि—चतुरवत्तञ्जुहोति वाक्य होम का कथन करता है इसका ज्ञान हमे उपस्तरण अवदान और अभिधारण वाक्य के

तृतीयो यथा—'तप्ते पयसि दध्यानयति' इति। अत्र सा वैश्वदेव्यामिक्षा इति वाक्येन तच्छब्देन निर्दिश्य वैश्वदेवयागाङ्गत्वेन विनियोक्ष्यमाणं यत्पयस्तत्संस्कारत्वाद्विनियोक्ष्यमाणसंस्कारकं दध्यानयनम्। पशुपुरोडाशयागस्तूपयुक्तोपयोक्ष्यमाणदेवता संस्कारार्थः त्यागांशे अदृष्टार्थश्च। अत्र तत्संस्कार्याग्नीषोमदेवताया वपायागे उपयुक्तार्थत्वात् हृदयाद्यङ्गयागेषु उपयोक्ष्यमाणत्वाच्च। स्विष्टकृद्यागो द्रव्यांशे देवतांशे चोपयुक्तसंस्कारार्थः, त्यागांशे अदृष्टार्थश्च। सूक्तवाकसाधनं प्रहरणमपि तथैव। उत्तमप्रयाजो यक्ष्यमाणदेवतासंकारत्वात्तदंशे उपयोक्ष्यमाणसंस्कारः इतरांशे अदृष्टार्थः। हृदयादिहविर्यागात्पूर्वं क्रियमाणो वसाहोमोऽपि वसांशे प्रतिपत्तिः, इतरांशे अदृष्टार्थं इत्याद्यूह्यम्।

उपयोक्ष्यमाण संस्कार के भेद

व्याख्या—गुणकर्म के दो भेद बतलाये गए हैं उपयुक्त संस्कारक और उपयोक्ष्यमाण संस्कारक। जिनमें उपयुक्त संस्कारक को प्रतिपत्तिकर्म कहा गया है तथा उसके तीन भेद बतलाये गए—प्रधानोत्तरकालिक, प्रधानसमकालिक और प्रधानपूर्वकालिक। अब उपयोक्ष्यमाण संस्कारक के तीन भेद बतलाते हैं, साक्षात् विनियुक्त संस्कारक, साक्षात् विनियुक्तोपकारक संस्कारक, विनियोक्ष्यमाण संस्कारक।



यहाँ यह भेद समझ लेना आवश्यक है कि उपयुक्त संस्कारक वह है जिसका प्रयोग प्रधान याग के निमित्त हो चुका है, चाहे उसका उपयोग पहले हुआ हो या प्रधान याग के साथ-साथ हुआ हो या बाद में; इसके विपरीत उपयोक्ष्यमाण संस्कारक वे हैं जिनका उपयोग भविष्य में होने वाला है।

साक्षात् विनियुक्त संस्कारक

अनुवाद—साक्षात् विनियुक्त संस्कारक वे हैं जिनका साक्षात् विनि-योग होने वाला है जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' इस वाक्य के द्वारा जो व्रीहि को कूटने का या अवहनन संस्कार का विधान किया गया है, वह साक्षात् विनियुक्त संस्कारक है क्योंकि 'व्रीहिभिर्यजेत' इस वाक्य में विनियुक्त व्रीहि का अवहनन संस्कार के बाद साक्षात् उपयीग होने वाला है।

साक्षात् विनियुक्तोपकारक संस्कारक

जिसका साक्षात् उपयोग किया जाने वाला है उसका उपकार करने वाले जो संस्कार होते हैं उन्हें साक्षात् विनियुक्तोपकारक संस्कारक कहते हैं। जैसे—'वत्समालभेत' इस वाक्य के द्वारा बछड़े की रस्सो पक-ड़ने का या स्पर्श करने का विधान किया गया है। दोहन किया के अङ्ग के रुप में गो द्रव्य का या गाय का साक्षात् उपयोग होता है उस दोहन क्रिया के लिए उपयोगी बछड़े का संस्कार 'वत्समालभेत' इस वाक्य से होता है अर्थात् इस वाक्य में ही बछड़े की रस्सी पकड़ने का विधान है अतः, यह साक्षात् विनियुक्तोपकारक संस्कारक है।

व्याख्या—वस्तुतः दोहन क्रिया के लिए साक्षात् उपयोगी गाय है लेकिन बिना बछड़े को पास ले जाए गाय दूध नहीं देगी अतः बछड़ा यहाँ दोहन क्रिया के लिए साक्षात् उपयोगी बछड़े का उपकार करता। बछड़े की रस्सी पकड़ना भी आवश्यक है, अन्यथा बछड़ा सारा दूध पी जाएगा, इस कार्य का विधान 'वत्समालभेत्' इस वाक्य के द्वारा होता है अतः यह वाक्य साक्षात् विनियुक्त (गाय) के उपकारक (बछड़े) का संस्कारक हैं।

विनियोक्ष्यमाण संस्कारक

जिसका उपयोग कुछ हो चुका हैं और कुछ होने वाला है उसे विनि-योक्ष्यमाण संस्कारक कहते हैं। 'तप्ते पयसि दध्नानयति' इस वाक्य के द्वारा गर्म दूध में दधि छोड़ने का विधान किया गया है। इस क्रिया के द्वारा दो फल मिलता है। पहला उससे एक गाढ़ा पदार्थ निकलता है जिसे छेना कहते हैं या अमिक्षा दूसरा छेने का पानी किसे वाजिन् कहते हैं।

'सा वैश्वदेव्यामिक्षा' इस वाक्य में विश्वेदेवों के निमित्त अमिक्षा का उपयोग करने के लिए कहा गया है। इस वाक्य में प्रयुक्त सा

या तत् पद इस बात को निर्देशित करता है, कि 'तप्ते पयसि दध्नानयति' इस वाक्य के द्वारा जो गर्म दूध में दधि डालकर फाड़ा गया है और अमिक्षा बनाया गया है उस (तत्) अमिक्षा का उपयोग वैश्वदेव के लिए होने वाला है। अतः यह संस्कार (गर्म दूध में दधि डालने का संस्कार) विनियोक्ष्यमाण देवता संस्कारक है अर्थात् भविष्य में उससे बनी अमिक्षा का उपयोग वैश्वदेव के लिए होने वाला है।

व्याख्या—'तप्ते पयसि दध्नानयति' यह वाक्य एक अन्य दृष्टि से भी विनियोक्ष्यमाण संस्कारक है। छेने का पानी जिसे वाजिन् कहते हैं उसका विनियोग 'वाजिभ्यो वाजिनम्' इस वाक्य के द्वारा वाजि देवता के निमित्त होता है।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि उपयोक्ष्यमाण और विनियोक्ष्यमाण का शाब्दिक अर्थ एक ही है किन्तु विधान की दृष्टि से इसमें भेद है। उपयोक्ष्यमाण शब्द का अर्थ प्रधान याग क्रिया के साथ सम्बद्ध रहता है जबकि विनियोक्ष्यमाण शब्द का अर्थ याग के अङ्गभूत क्रिया से सम्बन्धित होता है।

यहाँ इस प्रसङ्ग में यह स्पष्ट किया गया है कि संस्कार द्रव्यांश या देवतांश में ती उपयुक्त संस्करक या उपोक्ष्यमाण संस्कारक होते हैं किन्तु त्याग अंश में अदृष्टार्थ होते हैं। पाँच उदाहरण देकर इस विचार को स्पष्ट किया गया है।

पहला उदाहरण देते हैं कि पशुपुरोडाशयाग के निमित्त जिस पुरोडाश द्रव्य का उपयोग किया जाता है वह उपयुक्तदेवता संस्कारक भी है एवं त्याग अंश में वह अदृष्टार्थ है।

वपा याग में अग्नि सोम देवता के निमित्त पशु-पुरोडाश का उपयोग हो चुका है अतः, यह उपयुक्तदेवतासंस्कारक है। पुनः हृदयादि अङ्गभूत याग में उपयोग किए जाने वाले देवता के लिए भी पशुपुरोडाश द्रव्य का उपयोग किया जाएगा अतः, इस अर्थ में यह उपयौक्ष्यमाण देवतासंस्कारक है। पशु पुरोडाश द्रव्य का जब अग्नि में त्याग करते हैं तब वह नष्ट हो जाता है और उससे उत्पन्न अदृष्ट ही सुरक्षित रहता है। अतः त्याग अंश में पशुपुरोडाशयाग अदृष्टार्थ है।

इसी प्रकार स्विष्टकृत् याग द्रव्यांश और देवतांश में उपयुक्त संस्कारार्थक है किन्तु त्याग अंश में अदृष्टार्थ हैं। सूक्तवाक् को साधन बनाकर

जो प्रहरण किया जाता है वह भी वैसा ही है। उत्तम प्रयाज यक्ष्यमाण देवता संस्कारार्थक होने से उपयोक्ष्यमाण संस्कारक है तथा इतरांश में अदृष्टार्थ है। हृदयादि हवि याग के पूर्व किया जाने वाला वसा होम भी वसा अंश में प्रतिपत्ति है अर्थात् उपयुक्त संस्कारक है तथा इतर अंश में या त्याग अंश में अदृष्टार्थ है।

व्याख्या—संस्कार उपयुक्त संस्कारक या उपयोक्ष्यमाण संस्कारक भी होते हैं तथा अदृष्टार्थ भी होते उसका दूसरा उदाहरण देते हैं—स्विष्टकृत् याग। होम की समाप्ति होने पर होम की जब अन्तिम आहुति देनी होती है तो उसे स्विष्टकृत् याग कहते हैं अर्थात् बचे हुए द्रव्यों को एकत्रित करके अन्तिम आहुति देना यह द्रव्यांश और देवतांश दोनों होता है। प्रधान याग में प्रयुक्त होने वाला पुरोडाश का स्विष्टकृत् याग में पुनः प्रयोग करते हैं अतः, यह द्रव्य उपयुक्त संस्कारक हुआ। इसी प्रकार अग्नि देवता को निमित्त करके इसका उपयोग पहले हो चुका है। अतः, देवतांश में भी स्विष्टकृत् याग उपयुक्त संस्कारक है। द्रव्यांश और देवतांश में यह याग उपयुक्त संस्कारक है किन्तु जब द्रव्य को देवता को निमित्त करके 'स्वाहा' ऐसा बोलकर अग्नि में डाल देंगे तब उस त्याग अंश में वह उपयुक्त संस्कारक न होकर अदृष्टार्थ होगा। त्याग के बाद कुछ नहीं बचता अतः, अदृष्ट या अपूर्व की कल्पना कर लेते हैं जो स्वर्गरूप फल की प्राप्ति का कारण बनता है।

अब इसी विचार को स्पष्ट करने के लिए तीसरा उदाहरण देते हैं। 'सूक्तवाक्येन प्रस्तरं प्रहरति' यह सूक्तवाक् इष्टदेवता को स्मरण कराने वाला मन्त्र है इसका उच्चारण करते हुए अर्थात् इसको साधन बनाकर 'द्यावा-पृथ्वीमद्रमभूत' ऐसा उच्चारण करके प्रस्तर अर्थात् मुट्ठी भर दर्भ (दर्भ-मुष्टि) का अग्नि में प्रहरण या प्रक्षेप करते हैं। यह वाक्य भी द्रव्यांश और देवतांश में उपयुक्त संस्कारक है किन्तु त्याग अंश में अदृष्टार्थक है।

अब इसका चौथा उदाहरण देते हैं 'स्वाहाकारं यजति' यह मन्त्र उत्तम प्रयाज नामक याग में प्रयुक्त होता है। यह मन्त्र यक्ष्यमाण देवता संस्कारक है अतः, देवतांश में तो यह उपयोक्ष्यमाण संस्कारक है अर्थात् इस मन्त्र के द्वारा यक्ष्यमाण देवता का संस्कार उत्तम प्रयाज नामक याग में होगा। तथा त्याग अंश में यह मन्त्र अदृष्टार्थ है अर्थात् देवता को निमित्त करके अग्नि में द्रव्य का त्याग कर देंगे तब सभी कुछ अग्नि में

जल कर भस्म हो जाएगा, कुछ नहीं बचेगा और उससे उत्पन्न अदृष्ट ही रह जाएगा जो भविष्य में फल-प्राप्ति का साधन बनेगा।

उपरोक्त बात को स्पष्ट करने के लिए पाँचवाँ उदाहरण देते हैं। हृदयादि हवि याग में जो वसा होम किया जाता है वह वसा अंश में विनियोक्ष्यमाण संस्कारक प्रतिपत्ति कर्म है।

प्रतिपत्तेर्लक्षणान्तरम्

केचित्तु—उपयोक्ष्यमाणसंस्कारभिन्नसंस्कारकर्मत्वं प्रतिपत्तिकर्मत्वम्। चतुरवत्तद्रव्यस्य होमेन भस्मीभूतस्य होमान्तरमुपयोक्ष्यमाणत्वाभावात् तद्भिन्नत्वं होमोऽस्तीति लक्षणसंगतिरित्याहुः।

मतान्तर से प्रतिपत्ति कर्म का दूसरा लक्षण

कुछ विद्वान प्रतिपत्ति कर्म का दूसरा लक्षण इस प्रकार करते हैं—उपयोक्ष्यमाणसंस्कारभिन्नसंस्कारकर्मत्वम् अर्थात् उपयोक्ष्यमाणसंस्कार से भिन्न संस्कार को प्रतिपत्ति कर्म कहते हैं। प्रतिपत्तिकर्म उपयोक्ष्यमाण से भिन्न है। उपयोक्ष्यमाण का भविष्य में उपयोग होता है किन्तु प्रतिपत्ति कर्म का भविष्य में उपयोग नहीं होता है। जैसे (चतुरवत्त पुरोडाश द्रव्य प्रतिपत्तिकर्म है, उपयोक्ष्यसाण संस्कार नहीं है) होम में चतुरवत्त द्रव्य का उपयोग करने के बाद वह भस्म हो जाता है अतः, होम के बाद उसका उपयोग नहीं कर सकते अर्थात् वह उपयोक्ष्यमाण नहीं है चतुरवत्त होम उपयोक्ष्यमाण से भिन्न है अतः, प्रतिपत्तिकर्म के लक्षण की संगति उसमें हो जाती है।

अर्थगुणकर्मणोः प्राधान्यविचारः

अत्रायं विशेषः—अर्थकर्मणि द्रव्यापेक्षया कर्मणः प्राधान्यम्। कर्मणि द्रव्यस्य गुणत्वम्। यथाऽग्निहोत्रादौ दध्यादेर्गुणत्वम्। गुणकर्मणि द्रव्यस्य प्राधान्यं, द्रव्ये च कर्मणो गुणत्वम्। 'व्रीहीन् प्रोक्षति, अवहन्ति' इत्यादौ द्वितीयया व्रीहीणां क्रियासाध्यत्वप्रतीतेः क्रियापेक्षया द्रव्यस्य प्राधान्यं प्रोक्षणादिक्रियायास्तदपेक्षया गुणत्वमिति।

अर्थ और गुणकर्म के प्राधान्य का विचार

अर्थकर्म में द्रव्य की अपेक्षा गुण की प्रधानता होती है। कर्म प्रधान होता है और द्रव्य गौण हो जाता है जैसे अग्निहोत्र याग में याग प्रधान है और दधि आदि द्रव्य गौण हैं अतः, यह अर्थकर्म है। जबकि गुणकर्म में द्रव्य की प्रधानता होती है द्रव्य की अपेक्षा कर्म गौण होता है। जैसे—

वीहीन् प्रोक्षति, अवहन्ति यह गुणकर्म है यह व्रीहीन् में द्वितीया विभक्ति है। इसका यह अर्थ हुआ कि अवहनन या प्रोक्षण क्रिया द्वारा व्रीहि द्रव्य की साध्यता या निष्पन्नता बतायी जा रही है। यहाँ व्रीहि द्रव्य की अपेक्षा अवहनन और प्रोक्षणादि क्रियायें गौण हैं।

गुणकर्मणश्चातुर्विध्यम्

पुनरपि गुणकर्म्मं चतुर्विधम्—उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतिभेदात् तत्रोत्पत्तिसंस्कारो यथा—'अग्नीनादधीत' इति मन्त्रविशेषैः सम्भारेषु निधापिता अप्याहवनीयादय उत्पद्यन्त इत्याहवनीयाद्युत्पत्तिहेतुभूतसंस्कार जनकत्वात् आधानस्य उत्पत्तिसंस्कारत्वम्। आप्तिसंस्कारो यथा—स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति। अध्ययनेन स्वाध्याय आप्यत इत्याप्तिसंस्कारोऽयम्। विकृतिर्यथा—'वीहीन् अवहन्ति' इति वीहिगत वैतुष्यरूपविकृतिजनकत्वादवहननं विकृतिसंस्कारः। संस्कृतिर्यथा 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इति। अत्र प्रोक्षणस्य व्रीहिगतातिशयरूपसंस्कृतिजनकत्वात्संस्कृतिरूपगुणकर्मत्वम्। अत्राधानमध्ययनञ्च स्वतन्त्र गुणकर्म न तु क्रत्वङ्गम्। प्रोक्षणादिकं सर्वं क्रत्वङ्गम् गुणकर्मेति ध्येयम्।

गुण कर्म के चार भेद

गुण कर्म के चार भेद हैं उत्पत्ति संस्कार, आप्ति संस्कार, विकृति संस्कार और संस्कृति संस्कार

उत्पत्ति संस्कार

जिस वाक्य के द्वारा किसी कर्म का संस्कार रूप से विधान किया जाय वह उत्पत्ति संस्कार है। जैसे 'अग्नोनादधीत' इस वाक्य के द्वारा अग्नि का आधान किया जाता है। यद्यपि ऐसे अनेक मन्त्र है जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न कर्मो का विधान किया गया है; किन्तु अग्नीनादधीत में जो आधान करने का विधान है उसके द्वारा ही आह्वनीय अग्नि को स्थापित किया जाता है अतः 'आधान' यहाँ उत्पत्तिसंस्कार है।

व्याख्या—मीमांसकों ने आधान की प्रक्रिया को निम्न ढंग से समझाया है।

गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नीनां तद्तदायतनेषु सूत्रोक्तविधिना स्थापनं अग्न्याधानम्।

गार्हपत्य आवहनीय और दक्षिणाग्नि को सूत्रोक्त विधि से तत् तत् आयतनों में स्थापित करना अग्न्याधान कहलाता है। इन अग्नियों का

आधान करके अग्निहोत्री आजीवन इसे ग्रहण करने का व्रत लेता है। यह बहुत ही कठोर व्रत होता है। इस अग्नि को छोड़कर अग्निहोत्री कहीं नहीं जा सकता यदि कहीं जाता भी है तो सुरक्षित ढंग से अग्नि को अपने साथ ले जाता है।

आप्ति संस्कार

आप्ति संस्कार का उदाहरण है 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' यहाँ अध्ययन के द्वारा स्वाध्याय प्राप्त किया जाता है अतः, यह आप्ति संस्कार है।

व्याख्या—आप्ति का अर्थ है प्राप्ति और प्राप्ति का अर्थ है वेद के अक्षरों की प्राप्ति। स्वाध्याय का अर्थ है—'गुरुमुखोच्चारणानुपूर्विक उच्चारणम्' गुरु के मुख से उच्चरित शब्दों का पुनः उच्चारण करना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय से अध्ययन करना चाहिए यही आप्ति संस्कार है। स्वाध्याय से वेद के अक्षरों का ज्ञान होता है और वेद वचन को आप्त वचन कहते है। आप्त वचन अर्थात् अपौरुषेय वचन हैं। अतः स्वाध्यायोऽध्येतव्यः आप्ति संस्कार का उदाहरण है।

विकृति संस्कार

जो संस्कार मूलरूप में परिवर्तन ला दे वह विकृति संस्कार है विकृति संस्कार का उदाहरण है, 'व्रीहीनवहन्ति' इस वाक्य के द्वारा व्रीहि के कूटने का विधान किया गया है। इस कूटने की क्रिया से जो वैतुष्य होता है अर्थात् व्रीहि की भूसी निकल जाती है, इससे इसका मूलरूप परिवर्तित हो जाता है, वह धान से चावल बन जाता है, यही उसकी विकृति है। अवहनन क्रिया वैतुष्यरूप विकृति का कारण बनती है अतः, अवहनन क्रिया विकृति संस्कार का उदाहरण है।

संस्कृति संस्कार

संस्कृति का अर्थ होती है—सम्यक् करोति इति संस्कृतिः, किसी वस्तु को अच्छी प्रकार से साफ सुथरा करना, उसको सुन्दर रूप देना, संस्कृति-संकार कहलाता है। जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' व्रीहि का प्रोक्षण या जल से सिञ्चन करने से व्रीहि का विशेष संस्कार होता है। सिंचन या प्रोक्षण क्रिया चूँकि व्रीहिगत अतिशय को उत्पन्न करती है अतः, इसे संस्कृति संस्कार कहते हैं।

व्याख्या—यहाँ एक बात समझ लेना आवश्यक है कि इन चारों गुण-कर्मों में से आधान और अध्ययन ये दोनों स्वतंत्र गुण कर्म हैं; ये यज्ञ के

अङ्गभूत नहीं हैं। किन्तु अवहनन और प्रोक्षण क्रिया यज्ञ के अङ्गभूत कर्म हैं। ये दोनों स्वतंत्र कर्म नहीं है इनका उपयोग यज्ञ के निमित्त होता है।

अर्थकर्मणस्त्रैविध्यम्

अर्थकर्मत्रिविधम्---नित्य-नैमित्तिक-काम्यभेदात्।

अर्थकर्म तीन प्रकार के होते हैं—१ नित्यकर्म २ नैमित्तिक कर्म ३ काम्य कर्म।

नित्यम्

यत्र यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति 'सायं जुहोति' प्रातर्जुहोति इति जीवता पुरुषेण सायंप्रातः कालयोर्नियमेन कर्त्तव्यतयाऽवगतमग्निहोत्रादिकं नित्यम्।

नित्यकर्म

'जब तक जीवन हैं तब तक अग्निहोत्र करना चाहिए' 'सायं काल होम करना' चाहिए प्रातः काल होम करना चाहिए' इन वाक्यों के द्वारा जीवित पुरुष के लिए सांयकाल और प्रातः काल नियम पूर्वक अग्निहोत्र होम की कर्त्तव्यता बतलाई गयी है अतः, यह नित्यकर्म है।

नैमित्तिकम्

'अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्' इति दर्शपूर्णमासातिपत्तिनिमित्तकपथिकृदिष्ट्यादिकं नैमित्तिकम्। नित्यनैमित्तिकयोरकरणे प्रत्यवाय एव। कृते फलं नास्तीति केचित्। अन्ये तु दुरितनिवृत्तिः फलमस्ति—'नित्यनैमित्तकैरेव कुर्वाणो दुरतिक्षयम्।'

इत्यादिवाक्यैः प्रत्यवायनिवृत्तेः फलत्वेन श्रूयमाणत्वात्। न चैवं तयोरपि काम्यत्वापत्तिः फलत्वादिति वाच्यम्? फलकामनापूर्वकानुष्ठानाभावात्, तत्तद्विधिवाक्ये फलकाममुद्दिश्य तदर्थं फलसाधनत्वेन विधानाभावाच्च काम्यत्वानुपपत्तेः।

नैमित्तिक कर्म

अग्नेय पथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्ववेत् 'यह नैमित्तिक कर्म का उदाहरण है। इस वाक्य के द्वारा यह विधान किया गया है कि दर्शपूर्णमासयाग में यदि कोई त्रुटि हो गयी हो तो उसका निराकरण करने के लिए 'अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्' इस वाक्य के विधान के अनुसार पथिकृत याग करना चाहिए (इस वाक्य के द्वारा पथिकृत

याग का विधान यह बताया गया है कि आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश के द्वारा यह याग किया जाता है)

शंका-समाधान के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि नित्य और नैमित्तिक कर्म उतने ही आवश्यक है जितने कि काम्य कर्म।

कुछ लोग कहते हैं कि नित्य और नैमित्तिक कर्म न करने से पाप होता है किन्तु उनके करने से कोई फल नहीं मिलता तब इनके करने से क्या लाभ ? इस शंका का समाधान करते हैं कि नित्य और नैमित्तिक कर्मो से जो पाप का नाश होता है यही उसका फल है।

नित्यनैमित्तकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्

इस वाक्य के द्वारा यह ज्ञात होता है कि नित्य और नैमित्तिक कर्म करने से प्रत्यवाय की निवृत्ति होती है अर्थात् पाप निवृत्ति रूप फल की प्राप्ति होती है अतः इसको व्यर्थ नहीं कह सकते।

अब प्रश्न उठता हैं कि नित्य और नैमित्तिक कर्मो में फलोत्पादकता की शक्ति है तब इसे काम्य कर्म क्यों नहीं कहते। इसके उत्तर में कहते हैं कि नित्य नैमित्तिक कर्मो का पहले फल की कामना करके अनुष्ठान नहीं जाता। नित्य और नैमित्तिक कर्मो को बतलाने वाले विधि वाक्य किसी फल को उद्देश्य करके नहीं होते और न ही किसी फल के साधन के रूप में नित्यनैमित्तिक कर्मो का विधान किया जाता है अतः, इसे काम्य कर्म नहीं कह सकते।

काम्यकर्मणस्त्रैविध्यम्

काम्यमपि कर्म त्रिविधम्—केवलमैहिकफलकम् आमुष्मिकफलकम्, ऐहिकामुष्मिकफलकं चेति। तत्राद्यं यथा—करीर्यादि। तत तत्समयवर्ति शुष्यत्सस्यसञ्जीवनहेतुवृष्टिकामिना क्रियेत न कालान्तरभाविवृष्टिकामेन जन्मान्तरीयवृष्टिकामेन वा ॥ केवलामुष्मिकफलकं यथा—स्वर्गाद्यर्थं दर्श-पूर्णमासादिकं। स्वर्गस्य इहलोकभोग्यत्वाभावात् ॥ ऐहिकामुष्मिक-साधारणफलकं यथा—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इति भूत्यादि फलकमित्यन्यत्र विस्तरः।

काम्य कर्म के तीन भेद

काम्यकर्म तीन प्रकार के होते हैं केवल ऐहिकफलक आमुष्मिक फलक और ऐहिकामुष्कक फलक।

केवल ऐहिक फलककाम्य कर्म

ऐहिक का अर्थ होता है इस लोक से सम्बन्धित फल देने वाला अर्थात् सांसारिक फल को देने वाले काम्य कर्म को केवल ऐहिकफलक-काम्य कर्म कहते हैं इसका उदाहरण देते हैं करीरिष्ट्यादि। तत्कालीन सूख रहे सस्य (अन्न) के निमित्त वर्षा की कामना करके जो कर्म किया जा रहा है वह ऐहिक काम्य कर्म कहा जाएगा क्योंकि यह याग तत्काल वृष्टि की कामना से किया जाता है न कि कालान्तर भविष्य में वृष्टि की कामना से किया जाता है। अन्न इस समय सूख रहा है और इसी समय यह याग करने से लाभ होता है अतः, यह याग ऐहिक काम्य कर्म कहा जायेगा।

केवलामुष्मिक फलककाम्यकर्म

स्वर्ग की कामना से किया जाने वाला दर्शपूर्णमासादि याग आमुष्मिक फलक काम्यकर्म है क्योंकि स्वर्ग का भोग सांसारिक लोक में होता है।

ऐहिकामुष्मिकफलककाम्य कर्म

जिस काम्य कर्म का फल लौकिक और पारलौकिक दोनों होता है उसे ऐहिकामुष्किफलक काम्य कर्म कहते हैं इसका उदाहरण देते हैं 'वायव्यं श्वेतमालभेत्' भूति (ऐश्वर्य) की कामना करने वाला श्वेत अज का आलम्भन करें।

'वेदस्यालौकिकार्थबोधकत्वम्'

ननु दर्शपूर्णमासादिककर्मणां व्रीह्यादिद्रव्याणां च प्रत्यक्षत्वेन लौकिकत्वात्कथं वेदस्यालौकिकार्थबोधकत्वमिति चेत्—न, कर्मणां प्रत्यक्षत्वेऽपि तेषां स्वर्गादिफलसाधनत्वमप्रत्यक्षमिति', तत्फलसाधनतया तत् कर्म कर्त्तव्यम्, इत्येवं फलसाधनतया कर्मकर्त्तव्यताबोधकस्य वेदस्यालौकिकार्थबोधकत्वात्। एवं व्रीह्यादीनां यागादिक्रियासाधनत्वं न प्रत्यक्षवेद्यमिति तद्बोधकस्यापि वेदवाक्यस्यालौकिकार्थबोधकत्वमिति न दोषः।

वेद की अलौकिकार्थ बोधकता

वेद अलौकिक अर्थ का कैसे बोध कराता है? वेद विहित दर्शपूर्णमासादि कर्म और व्रीहि आदि द्रव्य दोनों प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं अतः, ये लौकिक हैं, इनको अलौकिकार्थ बोधक कैसे मान सकते हैं?

वेद विहित दर्शपूर्णमासादि कर्म और व्रीहि आदि द्रव्य प्रत्यक्ष अवश्य हैं किन्तु दर्शपूर्णमासादि याग कर्म का विधान जिस स्वर्ग रूप फल की प्राप्ति के साधन के रूप में किया गया हैं वह स्वर्ग रूप फल अप्रत्यक्ष है। अलौकिक फल के साधनभूत कर्म की कर्त्तव्यता का बोध कराने के कारण वेद अलौकिकार्थ बोधक है। इसी प्रकार व्रीहि आदि द्रव्य तो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं किन्तु यागादि क्रिया के ये द्रव्य साधन है इनके इस साधनत्व का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। याग क्रिया की साधना की दृष्टि से व्रीहि आदि प्रत्यक्ष है अतः, ये अलौकिक हैं। इस प्रकार वेदवाक्य को अलौकिकार्थ बोधक कहने में दोष नहीं हैं।

विधेर्विधायकत्वविचारः

इदानीं विधिवाक्यस्य विधायकत्वप्रकारः कथ्यते। तत्र 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र यजिधातोरुपरितने 'त' प्रत्यये धर्मद्वयमस्ति—आख्यातत्वं लिङ्त्वं चेति। तत्राख्यातत्वं सर्वलकारसाधारणम्, तदवच्छेदेन लिङ्-प्रत्ययः पुरुषप्रवृत्तिरूपामर्थभावनां प्रतिपादयति।

विधिवाक्य के विधान का प्रकार बतलाया जारहा है। अर्थात् विधि वाक्य कैसे, विधान करते हैं वह प्रक्रिया बतायी जा रही है। 'स्वर्गकामो यजेत्' में याजि धातु है और त प्रत्यय। त प्रत्यय में दोनों धर्म हैं आख्यातत्व और लिङ्त्व। आख्यातत्व धर्म दशों लकारों में आने वाला क्रिया रूप है। और लिङ्ग प्रत्यय पुरुष प्रवृत्ति रूप आर्थी भावना को बतलाता है। अर्थात् यजि धातु में लिङ्ग प्रत्यय लगने से चाहिए अर्थ निकलता है, स्वर्ग को कामना से याग करना चाहिए, यह प्रत्यय पुरुष को कर्म में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करता हैं।

तत्रार्थीभावना

सा चार्थभावना किं केन कथमिति अंशत्रयविशिष्टा। तथाहि—यजेतेत्यत्र प्रथमं प्रत्ययेन 'भावयेद्' इति प्रतीयते। सुबन्ताभिहितानां सर्वेषां कारकाणां तिङन्तार्थक्रियान्वयनियमे सति तिङन्तार्थस्य प्राधान्यात्। तत्रापि च प्रकृत्यर्थापेक्षया प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यात्प्रथमं प्रत्ययार्थभावनाया उपस्थितिर्युक्ता। ततः करोति—समानार्थकभावयतेः सकर्मत्वात 'किं भावयेत्' इति कर्माकाङ्क्षायां भिन्नपदोपात्तोऽपि स्वर्गो भाव्यत्वेनान्वेति। भाव्यत्वेन कर्मत्वेनेत्यर्थः। साध्यत्वेनेति यावत्। न तु समानपदोपात्तोऽपि धात्वर्थो भाव्यत्वेनान्वेति। दुःखात्मकस्य यागस्य-

प्सितमत्वरूपकर्मत्वायोग्यत्वात् । (ततश्च स्वर्गं भावयेत्) इति बोध भवति। ततः 'केन' करणाकाङ्क्षायां समानपदोपात्तो यागः करणत्वेनान्वेति—यागेन स्वर्गं कुर्यात्' इति। ततः 'कथं यागेन स्वर्गं कुर्यात्' इति कथंभावाकाङ्क्षायाम्—अग्न्यन्वाधानावहननादिजन्यदृष्टोपकारेण प्रयाजादिजनितादृष्टोपकारेण च सहितेन यागेन स्वर्गं कुर्यादिति अग्न्यन्वाधानाप्रयाजादिकमङ्गजातामिति कर्तव्यतात्वेनान्वेति । कथंभावाकाङ्क्षापूरकत्वमितिकर्तव्यतात्वम् । 'यथा ओदनकामः पचेत्' इत्यत्र लिङाभावना प्रतीयेत् । किं भावयेत्' इत्याकाङ्क्षायां ओदनो भाव्यत्वेनान्वेति, 'केन' इत्यकाङ्क्षायां पाकेनेति लभ्यते 'कथम्' इत्याङ्क्षायां तृणफूत्कारसहितेनेति । ततश्च तृणफूत्काराद्युपकृतेन पाकेन (तेजःसंयोगेन) ओदनं भावयेदिति वाक्यार्थः संपद्यते । तद्वद्वेदेऽपि बोध्यम् ।

(आर्थी भावना और शाब्दी भावना ससझने से पूर्व इतना समझ लेना आवश्यक है कि भावना अंशत्रय विशिष्ट होती है। भावना का अर्थ होता है अभिप्राय या व्यापार विशेष। कोई भी कार्य मनुष्य करता है तो उसकी प्रवृत्ति के विषय में मनुष्य के मन में तीन प्रश्न उठते हैं? इस प्रवृत्ति या व्यापार का उद्देश्य या साध्य क्या है ? दूसरा प्रश्न यह उठता है कि इस साध्य को सिद्ध करने का करण या साधन क्या है ? और तीसरा प्रश्न उठता है कि इस साधन को सम्पन्न करने का ढङ्ग क्या है ? उसकी विधि क्या है ? इन्हीं तीनों प्रश्नों को मीमांसक क्रमशः तीन शब्दों में अभिव्यक्त करते है—

किं भावयेत् , केन भावयेत्, कथं भावयेत् या साध्याकांक्षा, साधनाकांक्षा और इति कर्त्तव्यताकांक्षा ।

अनुवाद—आर्थी भावना में विशेष रूप से तीन अंश होते है किं, केन, कथम् । अर्थात् कि भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेत्, सुबन्त पदों से (शब्दरूप) जिन कारको का कथन करते है उनका तिङ्न्त पदों के साथ अन्वय करते है। (अर्थात् शब्दरूप का क्रिया रूप के साथ अन्वय होता है) सुबन्त और तिङ्न्तार्थ की ही प्रधानता होती है। प्रकृति अर्थ की अपेक्षा प्रत्यय अर्थ प्रधान होता है क्योंकि प्रत्यय अर्थ के द्वारा भावना की उपस्थिति होती है। (जैसे—'यजेत' इस पद में जो त प्रत्यय लगा है

१. सुप् से अन्त होने वाला सुबन्त (शब्दरूप) तिङ् से अन्त वाला तिङ्न्त (क्रियारूप)

उससे इस पद का अर्थं निकलता है, 'यागं भावयेत्' यह क्रिया की प्रेरणा या भावना 'त' प्रत्यय या तिङ् प्रत्यय से ही आती है अतः तिङ्न्त की यहाँ प्रधानता हैं।) 'स्वर्गं भावयेत्' इस वाक्य में भावयेत् यह पद सकर्मक और समानार्थक है अतः, यहाँ कर्म की अपेक्षा होती है।

किं भावयेत्—ऐसी कर्म की आकांक्षा होने पर 'स्वर्गं भावयेत्' इस प्रकार स्वर्गं के साथ आकांक्षा या भाव्यत्व का अन्वय करते हैं। यद्यपि कि स्वर्गकामः और यजेत् दोनों भिन्नपदोपात्त हैं अर्थात् स्वर्गकामः यह एक पद है और यजेत यह दूसरा पद है फिर स्वर्ग का भाव्यत्व के साथ अन्वय करते हैं भाव्यत्व का अर्थ होता है कर्मत्व या साध्यत्व। अर्थात् याग करते किसलिए हैं? उसका साध्य क्या है? तो उत्तर देते हैं कि याग स्वर्ग की प्राप्ति के लिए करते हैं, स्वर्ग ही उसका साध्य है।

यह एक शङ्का यह उठाते हैं कि जब समानपदोपात्त धात्वर्थ से भाव्यत्व की अन्विति हो जाती है तब भिन्नपदोपात्त की क्या आवश्यकता है? अर्थात् 'स्वर्गकामो यजेत्' में स्वर्गकामो एक पद है। तथा यजेत् यह दूसरा पद है इन दोनों भिन्नपदों से यह ज्ञात होता है कि याग के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति करे या याग का साध्य स्वर्ग है। इसकी अपेक्षा यजेत् यहाँ यज् धातु और त् प्रत्यय दोनों एक ही पद में गृहीत होते हैं। यज् धातु का अर्थ हैं याग और त् प्रत्यय विधिलिङ् का है। अतः, साध्याकांक्षा की पूर्ति यजेत् पद से ही हो जाती हैं तब स्वर्गकामो इस पद की क्या आवश्यकता हैं? 'किं भावयेत्? यागं भावयेत्' इस प्रकार एक ही पद से साध्याकांक्षा पूरी हो जाती हैं तब स्वर्गकामो यह दूसरा पद देने की क्या आवश्यकता पड़ी? इसका उत्तर देते हैं कि—समानपदोपात्त रहने पर भी धात्वर्थ यजेत् का भाव्यत्व के रूप में अन्वय नहीं कर सकते अर्थात् यजन् को साध्य नहीं मानते क्योंकि याग क्रिया साधन भी हो और साध्य भी हो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि पाणिनी के सूत्र में लिखा हैं 'कर्त्तुरीप्सिततमम् कर्म' कर्त्ता का जो सबसे ज्यादा अभीष्ट होता हैं वही कर्म होता हैं। यहाँ याग दुखात्मक हैं कष्ट साध्य है अतः वह इप्सिततम् नहीं हो सकता। अर्थात् कोई भी व्यक्ति दुःख की प्राप्ति के लिए कार्य करने के लिए प्रेरित् नहीं होता बल्कि भविष्य में सुख की प्राप्ति होगी इस आशा में व्यक्ति दुःख उठा सकता है) अतः याग का कर्मत्व या साध्यत्व के रूप में अन्वय नहीं कर सकते या याग को साध्य नहीं मान सकते।

किन्तु स्वर्ग का साध्यत्व के साथ अन्वय कर सकते हैं। क्योंकि स्वर्ग[1] इप्सिततम है। (कर्त्ता इस कर्म को सबसे अधिक चाहता है, आनन्दात्मक सुख की प्राप्ति कौन नहीं चाहता) स्वर्ग आनन्दात्मक है अतः, स्वर्ग का कर्मत्व या साध्यत्व के साथ अन्वय करेंगे। भले ही वह भिन्नपदोपात्त क्यों न हो।

इस प्रकार 'किं भावयेत्' इस आकांक्षा की पूर्ति हो गयी कि 'स्वर्ग भावयेत्'। ऐसा बोध हो जाने पर 'केन भावयेत्' यह करणाकांक्षा होती है अर्थात् स्वर्गरूप साध्य की प्राप्ति का साधन क्या हैं ऐसी आकांक्षा होती है; तो उत्तर देते हैं कि 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' याग से स्वर्ग को प्राप्ति करें। यहाँ याग स्वर्गरूप साध्य का साधन या करण बनता है। यह समान पदोपात्त है अर्थात् यज् एक ही धातु का याग के रूप में तथा उसका करणत्व के रूप में दोनों का एक साथ अन्वय करते हैं अतः, यह समानपदोपात्त है।

अब तीसरी आकांक्षा होती। कथं भावयेत् अर्थात् 'कथं यागेन स्वर्गं भावयेत्' अर्थात् कैसे याग करें जिससे स्वर्ग की प्राप्ति करें, इस प्रकार कथं भावाकांक्षा होने पर उत्तर देते हैं कि—अग्न्यन्वाधान, अवहननादि दृष्ट उपकरण और प्रयाजादिजनित अदृष्ट उपकरण के साथ याग के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति करना चाहिए इस प्रकार अग्न्यन्वाधान और प्रयाजादि अङ्गभूत कर्मो का इतिकर्त्तव्यता के साथ अन्वय करते हैं।

व्याख्या—याग कैसे करें ? ऐसी आकांक्षा होने पर याग करने को प्रक्रिया या वेदोक्त विधि से उसका विधान बताते हैं इसी को इतिकर्त्तव्यता कहते हैं। याग करने के लिए कुछ दृष्ट उपकरण की आवश्यकता दोती है। अवहननादि दृष्ट उपकरण है। यज्ञीय पुरोडाश बनाने के लिए व्रीहि का अवहनन करते हैं कूटते हैं जिससे उसकी भूसी निकल जाती है। उसका फल तुरन्त मिल जाता है अतः, दृष्ट है। इसी प्रकार अग्न्यन्वाधान[2] भी

---

१. यन्न दुखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च सत्सुखं स्वः पदास्पदम्॥
स्वर्ग की परिभाषा ही यही है कि जो दुःख से युक्त न होकर सुख से युक्त हो।

२. अन्वाधाना समिधा को अग्नि में रखना

दृष्ट उपकरण है। समिधा को अग्नि में रखने की प्रक्रिया प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त कुछ उपकरण अदृष्ट होते हैं अर्थात् उनसे अदृष्ट फल की प्राप्ति होती है; जैसे–प्रयाज और अनुयाज जो प्रधान याग के अङ्गभूत याग हैं उनका फल दृष्टगत नहीं होता अतः, वे अदृष्ट उपकरण कहे जाते हैं। इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट उपकरण की सहायता से याग करते हैं।

अनुवाद—ये दोनों ही उपकरण इतिकर्त्तव्यता का बोध करा देते हैं जिससे कथं भावाकांक्षा या इति कर्त्तव्यता की पूर्ति हो जाती है। मीमांसा परिभाषाकार आर्थीभावना को स्पष्ट करने के लिए एक अन्य लौकिक उदाहरण देते हैं।

'ओदनकामः पचेत्' यहाँ पच् धातु में विधिलिङ् प्रत्यय लगने से पचेत् बना। लिङ् प्रत्यय लगने से यहाँ आर्थी भावना होगी 'किं भावयेत्' क्या भावना करनी चाहिए ऐसी साध्याकांक्षा होने पर 'ओदनं भावयेत्' ऐसा उत्तर देते हैं अर्थात् पके हुए चावल का साध्यत्वेन अन्वय करते हैं। ओदन यहाँ साध्य है। साध्याकांक्षा के बाद साधनाकांक्षा होती है कि किससे भात बनाये? इसका साधन क्या है। इस आकांक्षा की पूर्ति करते हैं 'पाकेन ओदनं भावयेत् इस वाक्य से पाक यहाँ ओदन का साधन बनता हैं। अब 'कथं भावाकांक्षा' होती है अर्थात् इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होती है। मन में यह प्रश्न उठता है कि वह कौन सी प्रक्रिया है जिससे ओदन पकाते हैं। तब तृणफूत्कार के साथ इतिकर्त्तव्यता का अन्वय करते कथं भावाकांक्षा की पूर्ति करते हैं अर्थात् फूंक-फूंक कर लकड़ी जलाकर भात पकाते है यहाँ तृण फूत्कार वह प्रक्रिया है जिसकी सहायता से ओदन पकाते हैं। तृण फूत्कार की सहायता से पाक से या अग्नि संयोग से ओदन पकावें इस प्रकार वाक्य का अर्थ सम्पन्न होता है। इसी तरह 'स्वर्ग कामो यजेत्' इस वेद वाक्य के अर्थ को भी समझना चाहिए।

शाब्दी भावना

स एव लिङ्प्रत्ययो लिङ्त्वावच्छेदेन शब्दभावनां प्रेरणाख्यामभिधत्ते। लोकेऽपि 'गामानय' इत्याचार्यवाक्यश्रवणानन्तरं 'अयमाचार्यो मां गवानयने प्रेरयति' इति प्रेरणाख्यव्यापारं ज्ञात्वैव शिष्यो गवानयने प्रवर्तत इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रेरणाज्ञानं प्रवृत्तिकारणम्। प्रेरणाज्ञानस्य चान्वयव्यतिरेकाभ्यां लिङ्गादिश्रवणजन्यत्वावधारणात् लिङादेः प्रेरणायां शक्तिर्लोके गृह्यत इति वेदेऽपि शक्तिकल्पनौचित्यात्। इयांस्तु विशेषः—

लोके गवानयनादिप्रवृत्त्यनुकूलप्रेरणाख्यो व्यापारः प्रयोक्तृपुरुषगताभिप्रायविशेषः, वेदे तु प्रयोक्तृपुरुषाभावाल्लिङ्गादिशब्दनिष्ठ एव स इत्यङ्गीक्रियते। अत एव शब्दनिष्ठव्यापारत्वाच्छाब्दी भावनेत्युच्यते। यागहोमादिविषयकप्रवृत्तिहेतुत्वात् प्रवर्तना प्रेरणेति चोच्यते।

शाब्दी भावना

लिङ्त्व धर्म से विशिष्ट लिङ् को लिङ्त्वावच्छिन्न कहते हैं। लिङ्त्वावाच्छिन्न लिङ् प्रत्यय में ही प्रेरणा रूप शक्ति होती है जो पुरुष को प्रवृत्त करती है। शब्दी भावना का अर्थ होता है, शब्द में रहने वाली वह शक्ति जो पुरुष को प्रवृत्त करती है। व्यवहार में भी 'गामानय' इस आचार्य वाक्य को सुनने के बाद 'यह आचार्य मुझे गाय लाने के लिए प्रेरित कर रहा है इस प्रेरणा देने वाले व्यापार को जानकर ही शिष्य गाय लाने के लिए प्रेरित होता है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा प्रेरणा ज्ञान को ही प्रवृत्ति का कारण मानते हैं (अन्वय—व्यतिरेक को स्पष्ट करते है 'तत्सत्वे तत्सत्ता' 'यह अन्वय हैं प्रेरणा का ज्ञान होने पर शिष्य कार्य में प्रवृत्त होगा यह अन्वय है और 'तदभावे तदभावः' यह व्यतिरेक है प्रेरणा ज्ञान न होने पर गाय लाने में प्रवृत्ति नहीं होगी यह व्यतिरेक है। प्रेरणा ज्ञान का कारण होता है यह भी हमें अन्वय—व्यतिरेक से ज्ञात होता है। लिङादि के सुनने से ही प्रेरणा ज्ञान होता है और लिङादि प्रत्यय के न सुनने से प्रेरणा ज्ञान नहीं होता है। (अर्थात् यजेत में जो त विधिलिङ प्रत्यय लगा है उसका अर्थ होता है चाहिए, इसको सुनने से ही प्रेरणा ज्ञान होता है) जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में प्रेरणा की शक्ति अर्थ बताने वाले धातु में लगे लिङ् प्रत्यय में होती है। उसी प्रकार वेद में भी प्रेरणा की शक्ति विध्यर्थक लिङ शब्द में होती है। लौकिकी भावना और वैदिकी शाब्दी भावना में अन्तर इतना है कि लोक में गाय लाने रूप प्रवृत्ति के अनुकूल प्रेरणाभूत व्यापार प्रयोक्तृपुरुषगत अभिप्राय में रहता है। अर्थात् लौकिक वाक्यों में शाब्दी भावना को पुरुषनिष्ठ मानते हैं। वेद में प्रयोक्तृ पुरुष के न होने से शाब्दी भावना लिङादि शब्दनिष्ठ होती है। चूंकि व्यापार या प्रवृत्ति शब्द निष्ठ है अतः, इसे शाब्दी भावना कहते हैं। शाब्दी भावना याग विषयक और होम विषयक प्रवृत्ति का कारण है अतः, इसे प्रवर्त्तना या प्रेरणा भी कहते हैं।

व्याख्या—मीमांसकों के अनुसार शाब्दी भावना पुरुषनिष्ठ न होकर

वैदिक वाक्यों के शब्दों में रहती है क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं, वैदिक वाक्य पुरुष कृत नहीं है अतः, दोष रहित है। यदि पौरुषेय होते तो उसमें त्रुटि होने की सम्भावना होती। इसी कारण शाब्दी भावना को वैदिक वाक्यों के शब्दों में मानते हैं।

सैषा शाब्दी भावनापि अंशत्रयविशिष्टा। तत्र पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावना भाव्यत्वेनान्वेति। अध्ययनावगतलिङादिकं करणत्वेनान्वेति। अर्थवादप्रतिपाद्यप्राशस्त्यज्ञानमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति। तत्र 'साङ्गवेदाध्येतारोऽधीतव्याकरणनिगमनिरुक्तादिवशाद्व्युत्पत्तिमन्तः पुरुषाध्ययनगृहीतस्वाध्यायगतलिङादिभिः प्राशस्त्यज्ञानसचिवैर्यागाद्यर्थं स्वकर्तव्यत्वेन बुद्ध्वा 'यागादीननुतिष्ठेयुः' इति शब्दभावनाबोधः। अनुतिष्ठेयुः, अनुष्ठानं कुर्युरित्यर्थ। अनुष्ठानं प्रवृत्तिः। तेन पुरुषप्रवृत्तेः शब्दभावनाभाव्यत्वमक्षतम्।

यह शाब्दीभावना भी अंशत्रय विशिष्ट होती है। अर्थात् शब्दी भावना में भी 'किं भावयेत्' 'केन भावयेत्' और 'कथं भावयेत्' रूप साध्याकांक्षा साधनाकांक्षा और इति कर्त्तब्यता होती है। पुरुष प्रवृत्ति रूप आर्थी भावना का शाब्दी भावना के भाव्यत्व के रूप में अन्विति होती है। अर्थात् आर्थी भावना शाब्दी भावना का साध्य है। अध्ययन के द्वारा अवगत लिङादि का करणत्वेन अन्वय करते हैं।

अर्थवाद के द्वारा प्रतिपाद्य प्राशस्त्यादि ज्ञान का इति कर्त्तब्यता के साथ अन्वय करते हैं। अङ्ग सहित वेद का अध्ययन करने वाला व्याकरण निगम निरुक्तादि के अध्ययन से व्युत्पन्न होकर (ज्ञाता होकर) पुरुष को अध्ययन से गृहीत स्वाध्याय के द्वारा लिङादि द्वारा, प्राशस्त्यज्ञान प्राप्त करके यागादि को स्वकर्त्तव्यत्वेन बोध करके अर्थात् अपना कर्त्तव्य समझकर 'यागादि का अनुष्ठान करना चाहिए' ऐसी शाब्दीभावना का बोध होता है। अनुष्ठान का अर्थ होता है प्रवृत्ति। अतः, पुरुष की प्रवृत्ति रूप आर्थीभावना ही शाब्दी भावना का भाव्यत्व या साध्यत्व है यह सिद्ध हुआ।

इयं च शब्दभावना ज्योतिष्टोमादिप्रातिस्विकवाक्येषु स्वरूपेण प्रतीयमाना कर्तव्यत्वेन न प्रतीयते। अर्थभावनाया एव तेषु कर्तव्यत्वावगमात्, किंतु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति वाक्य एव कर्तव्यत्वेन प्रतीयते। नचात्रार्थभावनाया एव विधेयत्वमिति वाच्यम्। 'स्वाध्यायोऽ-

ध्येतव्यः' इति वाक्यस्यार्थभावनाया एव सकलविधिवाक्यस्थशब्द-भावनारूपत्वात् ।

जिस वेद वाक्य में ज्योतिष्टोम यागादि का विधान किया गया है उसकी स्वरूपतः प्रतीति तो होती है; किन्तु कर्त्तव्यत्वेन प्रतीति नहीं होती। अर्थीभावना के द्वारा ही उसके कर्त्तव्यत्व या भाव्यत्व का बोध होता है अर्थात् ज्योतिष्टोम आदि वाक्यों में लिङ्त्वेन शाब्दी भावना का बोध होने पर भी प्रवृत्त होने वाले पुरुष की शारीरिक चेष्टा का कर्त्तव्यत्वेन विधान नहीं किया गया है अतः, आर्थी भावना यहाँ साध्य है। किन्तु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वेद वाक्य के शाब्दी भावना में ही कर्त्तव्यत्वेन प्रतीति भी होती है, अलग से साध्यभूत आर्थीभावना का विधान नहीं किया जाता। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस वाक्य में प्रयुक्त अध्ययन शब्द स्वयं में प्रवृत्ति या प्रेरणा स्वरूप है।

तथा हि—अधिपूर्वकाद् 'इङ् अध्ययने' इति धातोः कर्मणि तव्य-प्रत्ययो विहितः। कर्म च स्वाध्यायः प्रधानम्। तत्संस्कारकमध्ययनं गुणकर्म। व्रीहिसंस्कारकप्रोक्षणादिवत्। अध्ययनजनितग्रहणसंस्कार-विशिष्टस्वाध्यायस्य प्रयोजनाकाङ्क्षायां स्वाध्यायगततत्तल्लिङादि-विशिष्टवाक्यसामर्थ्यलभ्यं यदनुष्ठानौपयिकं यागादिरूपार्थज्ञानं तदेव दृष्टत्वात्, तत्तत्कर्मानुष्ठानद्वारा स्वर्गादिरूपालौकिकश्रेयःसाधनत्वाच्च प्रयोजनम्। कर्मावबोधं विना कर्मानुष्ठानायोगात्। न त्वदृष्टं प्रयोजनम्; दृष्टफले संभवत्यदृष्टफलकल्पनाऽयोगात्। तथा च स्वा-ध्यायविधिनैव स्वाध्यायगतविधिवाक्यगतलिङादिप्रतिपादिताः सर्वाः शब्दभावनाः अंशत्रयविशिष्टाः कर्तव्यत्वेन विधीयन्ते। साङ्गवेदाध्यय-नेन व्युत्पन्नाः पुरुषाः अध्ययनगृहीतस्वाध्यायगतलिङादिभिरर्थवादा-वगतप्राशस्त्यरूपाङ्गसचिवैः फलवद्यागादिकर्तव्यतां बुद्ध्वा यागादीननु-तिष्ठेयुरिति। अनुतिष्ठेयुः प्रवृत्तिं कुर्युरित्यर्थः। तत्र पुरुषप्रवृत्ते-र्भाव्यत्वेनान्वयात्, अध्ययनावगतलिङादेः करणत्वेनान्वयात् प्राशस्त्य-ज्ञानस्येतिकर्तव्यतात्वेनान्वयात्, शब्दभावनाया अपि अंशत्रयवैशिष्ट्यमर्थ-भावनाया इवेष्टम्।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—अधि उपसर्ग इङ् अध्ययने धातु से कर्म के अर्थ में तव्य प्रत्यय लगा है। स्वाध्याय प्रधान कर्म है और अध्येतव्य या अध्ययन रूप संस्कार गुण कर्म है। जैसे व्रीहि

का संस्कार या प्रोक्षण करते है तो यह गुण कर्म है उसी प्रकार अध्ययन के द्वारा जो ज्ञानरूपी संस्कार उत्पन्न होता है उससे स्वाध्याय का संस्कार होता है, गुरुमुख से बार-बार वेद का श्रवण और उच्चारण करने से शिष्य को स्वाध्याय की प्राप्ति होती है। अब प्रश्न उठता है कि अध्ययन से जो ज्ञान रूप संस्कार होता है उस संस्कार से विशिष्ट या संस्कृत स्वाध्याय का प्रयोजन क्या है? यह साध्याकांक्षा ह ती है तो उत्तर देते हैं कि—स्वाध्याय का प्रयोजन दृष्ट भी है और अदृष्ट मी। दृष्ट फल यह है कि स्वाध्याय का दृष्ट प्रयोजन है अर्थज्ञान और अदृष्ट प्रयोजन है स्वर्ग की प्राप्ति।

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस लिङादि विशिष्ट वाक्य के सामर्थ्य से अनुष्ठानोपयोगिक यागादि रूप अर्थ का जो ज्ञान होता है वह इसका दृष्ट फल है तथा यागादि कर्म के अनुष्ठान के द्वारा स्वर्गादि रूप अलौकिक फल की प्राप्ति होती है वह इसका अदृष्ट प्रयोजन है। यहाँ एक शङ्का यह उठाते हैं! कि जब दृष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है तब अदृष्ट फल की कल्पना क्यों करते हैं अर्थात् याग रूप अर्थ का ज्ञान हो जाने पर पुरुष की अनुष्ठान के प्रति प्रवृत्ति हो जाती है तब याग के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति रूप अदृष्ट की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस स्वाध्यायगत विधि वाक्य के द्वारा प्रतिपादित लिङादि प्रत्यय से शाब्दीभावना का बोध होता है वह भी अंशत्रय विशिष्ट है तथा कर्त्तव्यत्वेन इसका विधान किया जाता है। छहो अङ्गों सहित वेद का अध्ययन करने से व्युत्पन्न पुरुष अर्थात् ज्ञानी पुरुष अध्ययन के द्वारा स्वाध्यायगत (वेद में स्थित) लिङादि का ज्ञान करके प्रशंसा करने वाले अर्थवादों से फलोत्पादक यागादि को अपना कर्त्तव्य समझकर याग का अनुष्ठान करे। अनुतिष्ठेयुः का यहाँ अर्थ है अनुष्ठान करना चाहिए। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस वाक्य में पुरुष की प्रवृत्ति का भाव्यत्वेन अन्वय किया गया है। अध्ययनगत लिङादि का करणत्वेन अन्वय किया गया है तथा प्राशस्त्यज्ञान का इति कर्त्तव्यता के रूप में अन्वय किया गया है। आर्थी भावना की तरह शाब्दी भावना भी अंशत्रयः विशिष्ट होती है।

व्याख्या—स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस वाक्य में स्वाध्याय के द्वारा यागानुष्ठान की भावना करेंगे यह पुरुष की प्रवृत्ति साध्य है। अध्ययनगत

लिङादि करण हैं। याग की प्रशंसा और निन्दा सम्बन्धी ज्ञान से यहाँ कथं भावाकांक्षा की पूर्ति होती है अतः यह प्राशस्त्यज्ञान का इतिकर्त्त-व्यता के साथ अन्वय करते हैं।

तत्र समीहितस्वर्गादिभाव्यकत्वमानमपि विधिवशादेव। प्रवर्तना-परोविधिः यागादेः पुरुषार्थसाधनत्वे तत्र पुरुषं प्रवर्तयितुं न शक्नोतीति स्वभाव्यपुरुषप्रवृत्तिविषयस्य यागादेः पुरुषाभिलषितस्वर्गादिसाधनत्व-मापादयति। अन्यथा स्वस्य प्रवर्तनात्वमेव न स्यात्। प्रवृत्तिहेतुव्यापार-स्यैव प्रवर्त्तनात्वात्। लडादिस्थले तु प्रवर्तनात्मकविधेरभावादार्थभाव-नायाः पुरुषार्थभाव्यत्वनियमो नास्ति।

अभिलषित स्वर्गादि साध्य है इसका ज्ञान हमें विधिवाक्य से या विधि-लिङ्प्रत्यय से ही होता है। यदि यागादि विधि पुरुषार्थ का साधन न होती तब प्रर्वतनापरक विधि पुरुष को प्ररित करने में समर्थ न होती। स्व अर्थात् प्रवर्तना विधि का साध्य है—यागादि और यही यागादि पुरुष के द्वारा अभिलषित स्वर्गादि के साधन बनते हैं। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो स्व का प्रर्वतनापरत्व रूप स्पष्ट नहीं हो पाएगा अर्थात् विधि प्रवृत्ति कराने वाली होती है, तो यह बोध नहीं होगा। प्रवृत्ति के हेतु के व्यापार को प्रवर्तना कहते हैं या प्रवर्तना पुरुष को प्रवृत्ति के लिए या क्रियाशील होने के लिए प्रेरित कर देती है। जहाँ लट् लकार होता है वहाँ स्वर्ग के फल रूप प्राप्ति की प्रवर्तना नहीं बनती या पुरुषार्थ भाव्यत्व का नियम नहीं बनता। इससे यह सिद्ध होता है कि लिङ् लकार से मुक्त आर्थीभावना ही प्रवृत्तिजनक है।

धातु में लट् लकार लगने पर प्रवर्तना नहीं होती लिङ् प्रत्यय लगने पर प्रवर्तना होती है जैसे—'रथो गच्छति' कहने पर रथ का गमन रूप व्यापार तो स्पष्ट होता है किन्तु इस वाक्य से प्रवर्तना नहीं होती है अर्थात् यह वाक्य किसी कार्य को करने के लिए पुरुष को प्रेरित नहीं करता जबकि रथेन गच्छेत् या गच्छ कहने से प्रवर्तना हो जाती है अर्थात् लिङ् प्रत्यय लगने से कार्य करने की प्रेरणा मिल जाती है।

भावनालक्षणम्

भावनात्वं नाम भवितुः प्रयोजकव्यापारत्वम्। तत्रार्थभावनायां भवि-

---

१. प्रवर्तनाक्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः।

तुर्जायमानस्य स्वर्गादेः प्रयोजकव्यापारत्वाल्लक्षणसङ्गतिः। शाब्द-भावनायामपि पुरुषप्रवृत्तिरूपस्य भवितुः प्रयोजकव्यापारत्वाल्लक्षण-सङ्गतिः।

भावना का लक्षण

भविता के अर्थात् उत्पद्यमान वस्तु के प्रयोजक व्यापार को भावना कहते हैं (इस लक्षण की सङ्गति शाब्दी और आर्थी भावनाओं में करते हैं) आर्थी भावना में उत्पद्यमान वस्तु है। स्वर्गादि और इसको उत्पन्न करने वाला प्रयोजक व्यापार है यागादि में पुरुष की प्रवृत्ति। अतः इसमें लक्षण की सङ्गति हो जाती है। इसी प्रकार शाब्दी भावना में भी लक्षण की सङ्गति होती है। शाब्दी भावना में पुरुषप्रवृत्तिरूपसाध्य का साधक व्यापार होता है। अर्थात् शाब्दी भावना का साध्य है आर्थी भावना जो पुरुष प्रवृत्ति रूप हैं। इस प्रवृत्ति का प्रेरक है शाब्दी भावना।

ज्योतिष्टोमादीनां नामत्वप्रतिपादनम्

ननु 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' इत्यत्र यागेन स्वर्गं भावयेदित्यर्थवर्णने ज्योतिष्टोमपदस्य कथमन्वयः इति चेत्,—न; भावना-करणत्वेनाभिमतयागनामत्वेनान्वयात् 'ज्योतिष्टोमनामकेन यागेन' इति।

व्याख्या—अनुवाद समझने से पूर्व नामधेय की व्याख्या समझ लेना आवश्यक है। वेद को ५ भागों में बाँटा गया है—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध, और अर्थवाद। इनमें से विधि का विस्तार से विवेचन किया जा चुका है अब नामधेय का विस्तार से विवेचन करते हैं। मीमांसा दर्शन में नामधेय शब्द परिभाषिक है। अर्थात् नामधेय से यहाँ तात्पर्य है याग का नाम न कि अन्य कोई नाम। किसी शब्द विशेष को याग विशेष का नाम मान लेने से वह अन्य किसी अर्थ को नहीं व्यक्त करता अपितु वह केवल याग का नाम बतलाता है। अग्निहोत्र याग उद्भिद् याग आदि में अग्निहोत्र और उद्भिद याग का नाम है इनका कोई शाब्दिक अर्थ नहीं होता याग कह देने से याग सामान्य का ज्ञान होता है; जबकि याग के साथ उसके विशिष्ट नाम का उल्लेख कर देने से यह बोध होता है कि किसी विशिष्ट याग को करने से किसी विशिष्ट फल की प्राप्ति होती है। जैसे—'उद्भिदा यजेत् पशुकाम' में उद्भिद् शब्द का अर्थ खुरपा, कुदाली आदि भी है तथा

याग विशेष भी; लेकिन नामधेय मान लेने पर उद्भिद् का खुरपा या कुदाली आदि अर्थ न करके केवल याग विशेष का नाम ही मानते हैं पशु प्राप्ति रूप फल की प्राप्ति के लिए उद्भिद् नामक विशेष याग करना चाहिए।

अनुवाद—शङ्का 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' याग के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति करनी चाहिए, ऐसा बोध होता हैं किन्तु यहाँ इस प्रसङ्ग में ज्योतिष्टोम पद का अन्वय किसके साथ होगा अर्थात् जब याग के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति का बोध हो जाता हैं तब यहाँ ज्योतिष्टोम पद की क्या आवश्यकता है ?

तब इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि मीमांसक भावना को करण मानते हैं। याग के नाम के रूप में ज्योतिष्टोम पद का अन्वय करते हैं। 'ज्योतिष्टोमेन नामकेन यागेन स्वर्गं भावयेत्' ज्योतिष्टोम नामक याग से स्वर्ग की भावना करनी चाहिए। अर्थात् विशेष फल स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ज्योतिष्टोम नामक विशेष याग करना चाहिए। अतः ज्योतिष्टोम याग विशेष का नाम है।

ननु कथं तन्नामत्वमिति चेत्, ज्योतिराख्यास्त्रिवृदादिस्तोमा अस्मिन्सन्तीति व्युत्पत्त्या यागमनामत्वम्। यागस्य त्रिवृदादिस्तोमसंबन्धः केनावगम्यते इति चेत् त्रिवृत् पञ्चदशः सप्तदशः स्तोमाः' इति वाक्यान्तरेण; एतच्छब्दार्थस्य तत्संबन्धावगमात्। एवं शास्त्रोक्तैस्तत्प्रख्यादिभिर्हेतुभिस्तत्र तत्र नामत्वं बोध्यम्।

शंका यह उठाते है कि ज्योतिहोम पद याग का नाम कैसे पड़ा ?

समाधान करते हैं कि ज्योतिराख्यास्त्रिवृदादिस्तोमा इति। इससे यह विदित होता है कि ज्योति नामक त्रिवृत, पञ्चदश, एकविंश ये स्तोम जिसमें हो वह ज्योतिष्टोम याग है। स्तोम का अर्थ होता है मन्त्र और त्रिवृतादि संख्या के वाचक हैं। जिस मन्त्र को ३ बार दुहराया जाता है, तो वह त्रिवृत स्तोम कहलाता है जिसकी पन्द्रह बार आवृत्ति की जाती वह पञ्चदश स्तोम कहलाता है आदि। इससे यह स्पष्ट होता है कि याग का त्रिवृतादि स्तोम के साथ सम्बन्ध हैं, अतः इसका नाम ज्योष्टोम पड़ा। इस प्रकार मीमांसा शास्त्र के अनुसार तत्प्रख्य आदि हेतुओं के द्वारा अन्य यागों के नाम का बोध होता है।

तत्प्रख्यन्यायेन नामत्वम्

शास्त्रे हि–तत्प्रख्य-तद्व्यपदेश-यौगिक-वाक्यभेदैश्चतुर्भिर्नामत्वम् प्रतिपादितम्। तथाहि–'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यत्र अग्निहोत्रशब्देन अग्निदेवतारूपो गुणो न विधीयते, 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति' इति वाक्यविहितेन मन्त्रेण देवतायाः प्राप्तत्वात्। किन्तु अग्निप्रख्यापकं (अग्निप्रापकं) यच्छास्त्रान्तरं 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' इत्यादिकं, तेन प्राप्तमग्निसम्बन्धं निमित्तीकृत्य अग्नये होत्रं होमोऽस्मिन्निति बहुब्रीहिणा अग्निहोत्रपदस्य होमनामधेयत्वम्। न च होमस्य प्रत्ययवाच्यार्थभावनायां करणत्वात् तन्नामत्वे 'अग्निहोत्रेण' इति तृतीया स्यात्, 'ज्योतिष्टोमेन' इतिवदिति वाच्यम्; द्वितीयाया एव लक्षणया करणार्थकत्वात्, 'नासाधितं करणम्' इति न्यायेन असाधितस्य करणत्वायोगात् अर्थात्प्राप्तहोमगतसाध्यत्वानुवादकत्वेन वा द्वितीयोपपत्तेरिति तत्प्रख्यन्यायादत्र नामधेयत्वम्।

मीमांसा शास्त्र के अनुसार तत्प्रख्य, तद्व्यपदेश, यौगिक और वाक्यभेद इन ४ हेतुओं द्वारा नामधेयत्व का प्रतिपादन किया गया है।

पहले तत्प्रख्य हेतु द्वारा नामधेयत्व का प्रतिपादन कर रहे हैं—'अग्निहोत्रं जुहोति' यहाँ अग्निहोत्र शब्द के द्वारा अग्निदेवतारूप गुण का विधान नहीं किया गया है क्योकि, 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा, 'सायं जुहोति' 'प्रातर्जुहोति' आदि वाक्यों के द्वारा अग्नि देवतारूप गुण का विधान किया जा चुका हैं।

यदि अग्नि के प्रख्यापक अर्थात् अग्नि देवता का बोध कराने वाले शास्त्रान्तर में वर्णित जो मन्त्रवाक्य है उसका 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः वाक्य में प्राप्त अग्निदेवता के सम्बन्ध को निमित्त बनाकर 'अग्नये होत्रं हामोऽस्मिन्' अग्निदेवता के लिए जिसमें होम किया जा रहा है ऐसा बहुव्रीहि समास का विग्रह करते हैं और इस तरह अग्नि का अर्थ हो जाता है अग्नि देवता रूपगुण किन्तु अग्निदेवतारूप गुण का ज्ञापक अन्य वाक्य है ही तब यहाँ पर अग्निहोत्र को होम का नाम मान लेना चाहिए।

यहाँ यह शंका उठती है कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' को नामधेय मान लेने कर 'ज्योतिष्टोमेन यागेन स्वर्गं भावयेत्' यह स्पष्ट करते हैं; उसी प्रकार 'अग्निहोत्रेण' इस तृतीया विभक्ति का यहाँ प्रयोग होना चाहिए,

तब 'अग्निहोत्रं जुहोति' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग क्यों किया गया है।

इसका समाधान यह करते हैं कि लक्षणा के द्वारा 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस द्वितीया विभक्ति का अग्निहोत्र इस तृतीया विभक्ति में प्रयोग कर देते हैं। 'नासाधितं करणम्' इस न्याय से असाधित करण नहीं हो सकता। जब तक कोई पदार्थ स्वयं किसो साधन से सिद्ध नहीं होता तो वह कैसे किसी का साधन बन सकता है? सिद्ध पदार्थ ही साधन बन सकता है, असिद्ध नहीं। यहाँ शास्त्रान्तर से होम के साध्य के रूप से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करके 'अग्निहोत्रं जुहोति' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग करते हैं। यहाँ तत्प्रख्यन्याय से 'अग्निहोत्र' पद की होम नामधेयत्वेन प्राप्ति हुई।

व्याख्या—तत्प्रख्य-शास्त्र का अर्थ होता है—तत्-गुण, प्रख्य = ज्ञापक अर्थात् गुण के वाचक जब अन्य शास्त्र विद्यमान हैं तब गुण के वाचक के रूप में किसी दूसरे शब्द को स्वीकार नहीं करना चाहिए। 'अग्निहोत्रं जुहोति' में अग्निहोत्र शब्द याग विशेष का नाम है 'अग्नौ होत्रमस्मिन्' या 'अग्नये होत्रम् अस्मिन्' इस प्रकार बहुव्रीहि समास के द्वारा इस पद का विग्रह करके 'अग्नि जिसमें होम किया जाता है' या अग्नि देवता के लिए जिसमें होम किया जाता है, ऐसा विग्रह करके अग्नि को द्रव्य या देवता का वाचक मानना उचित नहीं क्योंकि जब 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' 'सायं जुहोति' आदि वाक्यों में अग्नि का देवता और आधार आदि गुणों में कथन किया जा चुका है तब 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में अग्निहोत्र पद को गुण का वाचक मानना ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर अग्नि को गुणवाचक सिद्ध करने वाले शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे। अतः तत्प्रख्यन्याय से 'अग्निहोत्र' पद यहाँ मात्र याग का नामधेय हैं।

तद्व्यपदेशन्यायेन नामत्वम्

तथा 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यत्र श्येनपदं यागनामधेयं, नतु यागाङ्गत्वेन श्येनपक्षिरूपगुणविधिः। 'यथा ह वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमेवायं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते यमभिचरति श्येनेन' इत्युपमानोपमेयव्यपदेशानुपपत्तिप्रसङ्गात्। 'श्येनपक्षी यथा पक्ष्यन्तरं निपत्यादत्ते एवमयमपि श्येननामकः कर्मविशेषो भ्रातृव्यं शत्रुं निपत्यादत्ते' इति व्यपदेशः कर्मनामत्व-

पक्षे एव युज्यते। यागाङ्गतया श्येनपक्षिविधौ तु स्वस्य स्वेनैवोपमानोपमेयभावः स्यात्, स चायुक्तः। तस्माच्छयेनतुल्यताव्यपदेशाच्छ्येनपदं कर्मनाधेयम्; ततश्च 'अभिचरन् शत्रुवधकामः श्येननामकेन यागेन अभिचारं भावयेत्' इति वाक्यार्थः।

'श्येनाभिचरन् यजेत्' यहाँ श्येन पद याग का नामधेय हैं। याग के अङ्गभूत श्येन = बाज पक्षिरूप गुण का विधान नहीं किया गया हैं 'यथा ह वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमेवायं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते यमभिचरति श्येनेन' जिस प्रकार श्येन पक्षी आकाश से उतरकर अन्य पक्षियों पर तेजी से झपट्टा मारता हैं, उसी प्रकार श्येन याग के द्वारा मनुष्य को शत्रु पर आक्रमण करके वध करना चाहिए, ऐसा जो उपमानोपमेय के द्वारा वक्तव्य दिया गया हैं, वह 'श्येन' शब्द को याग का नामधेय मानने पर ही सम्भव हैं। उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य के द्वारा श्येन पक्षी की स्तुति नहीं की जा रही है क्योंकि श्येनपक्षी तो स्वयं उपमान हैं। एक ही पद स्वयं में उपमेय और उपमान नहीं हो सकता। श्येन पक्षी से तुलना की गयी हैं। 'श्येनाभिचरन् यजेत' इस वाक्य में श्येन पद याग का नामधेय है, तब पूरे वाक्य का अर्थ यह होगा कि 'शत्रुवध की इच्छा रखने वाले मनुष्य को श्येन नामक याग के द्वारा अभिचार = शत्रुवध करना चाहिए।

व्याख्या—व्यपदेश यह पद उपमानोपमेय भाव का सांकेतिक अर्थ है। वि = विशेषः उपमानत्वम् = अपदेशः वर्णनम्, संकीर्तनम्।[1]

यहाँ श्येन शब्द याग का नाम हैं बाज पक्षी का बोधक नहीं हैं, इसका ज्ञान हमें व्यपदेश द्वारा होता हैं अर्थात् हमें उपमानोपमेय भाव के द्वारा होता है। 'यथा ह वै....आदि वाक्य के द्वारा श्येन पक्षी की श्येन याग से तुलना की गयी है। श्येन पद एक स्थान पर उपमान है और दूसरे स्थान पर उपमेय। अतः, एक स्थान पर इसका अर्थ श्येन पक्षी और दूसरे स्थान पर इसका अर्थ श्येन याग मानना पड़ेगा क्योंकि उपमान और उपमेय की दृष्टि से दोनों पदों को भिन्न अर्थ वाला मानना आवश्यक है तभी किसी सादृश्य गुण को लेकर तुलना की जाती है जब दोनों एक ही हो जाएँगे तब किससे किसी तुलना करेंगे।

नन्वेवमप्यभिचारस्यापि वेदोक्तत्वादभिचारिके कर्मण्यास्तिकानामपि प्रवृत्तिः स्यादिति चेत्,—न; वेदोक्तोऽप्यभिचारो वेदविहितो न

१. मीमांसा परिभाषा—संस्कृत टीका गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

भवति, फलत्वात्। 'फलं न विधेयं किंतु फलमुद्दिश्य तत्साधनत्वेन कर्मैव विधेयम्' इति सिद्धान्तात्। अतोऽभिचारस्याविहितत्वेन प्रत्यवायजनकत्वम्।

यहाँ शंका यह उठती है कि अभिचार=हिंसा वेद-विहित है, अतः हिंसात्मक कार्य में आस्तिकों की प्रवृत्ति होनी चाहिए। अर्थात् 'श्येनाभिचरन् यजेत' ऐसा कहने से मनुष्य की हिंसा में प्रवृत्ति हो जाएगी।

इस शंका का समाधान इस प्रकार करते हैं कि अभिचार=हिंसा का वेद में वर्णन अवश्य किया गया है लेकिन विधान नहीं किया गया है अभिचार वेद विहित नहीं है। अभिचार का कर्त्तव्य के रूप में विधान नहीं किया है। अपितु अभिचार का वेद में फलत्वेन कथन किया गया है। सिद्धान्त यह है कि फल स्वयं विधेय नहीं होता, फल को उद्देश्य करके उसके साधन के रूप में कर्म का विधान किया जाता हैं। अतः, अभिचार (शत्रु हिंसा) वेदविहित न होने से प्रत्यवाय (पाप) का जनक हैं, अतः इस कर्म में आस्तिकों की प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् श्येन याग में बलवदनिष्टानुबन्धित्व गुण नहीं है अतः यह धर्म नहीं हो सकता। जो अनिष्ट का कारण न बनता हो वही धर्म हो सकता है।

यौगिकन्यायेन नामत्वम् (योगेन नामत्वम्)

एवं 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यत्र पशुरूपफलाय विधित्सितस्य यागस्य उद्भित्पदं नामधेयम्, न तु यथाकथंचित्प्राप्तयागमुद्दिश्य तदङ्गतयोद्भिद्रूपगुणविधः। दध्यादिवदुद्भिन्नामकस्य गुणस्याप्रसिद्धत्वात्। यागे तु 'उद्भिद्यते फलमनेन' इति योगसम्भवाद्यागनामत्वम्।

'उद्भिदायजेत पशुकामः' वाक्य में उद्भिद् शब्द पशुरूप फल की इच्छा से किये जाने वाले याग का नामधेय है न कि अन्य किसी वाक्य से यथाकथाञ्चित् प्राप्त याग को उद्देश्य करके उस याग के अङ्ग के रूप में उद्भिद रूप गुण का विधान किया है। जैसे—दधि आदि गुण वाचक नाम प्रसिद्ध है उस प्रकार उद्भिदादि गुणवाचक नाम प्रसिद्ध नहीं है। उद्भिद् शब्द को याग का नामधेय मानना ही उचित हैं क्योंकि उद्भिद् शब्द की यौगिक व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'उद्भिद्यते फलमनेन' अर्थात् जिसके द्वारा पशु आदि फलो का उद्भेदन किया जाय या पशुरूप फल की प्राप्ति की जाय। अतः, उद्भिद् शब्द याग का नामधेय है।

व्याख्या—जैसे 'दध्ना जुहोति' में दधि गुण है उसी प्रकार 'खनित्रेण साध्यो यो यागः तेन पशुं भावयेत्' यह विग्रह करके उद्भिद् का अर्थ खनित्रगुण इसलिए नहीं करते कि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य का फलवाचक दूसरा कोई वाक्य नहीं है। जबकि 'दधि' को गुणवाचक मान लेने में कोई हर्ज नहीं है क्योंकि दधि का फल वाचक दूसरा वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' है।

ननु 'उद्भिद्यते भूमिरनेन' इति योगवशेन खनित्रादावप्युद्भिदः प्रयोगसम्भवात् खनित्रादिगुणविधिः किं न स्यादिदिति चेत्,—न; एतादृशस्थले गुणविधिः क्वापि वक्तुं न शक्यते। विरुद्धत्रिकद्वयसमावेशाख्यदोषप्रसङ्गात्।

'उद्भिद्यते भूमिरनेन' (भूमि जिससे खोदी जाती हैं अर्थात् फावड़ा) उद्भिद् शब्द की इस यौगिक व्युत्पत्ति के द्वारा उद्भिद् शब्द का खनित्र अर्थ में प्रयोग संभव होने से उद्भिद् शब्द को खनित्र गुण का विधायक मान लेना चाहिए।

उपर्युक्त शंका का समाधान इस प्रकार करते हैं कि इन स्थलों पर भी उद्भिद् इस पद को गुणविधि नहीं मान सकते क्योंकि गुणविधि मान लेने पर विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति हो जायगी। अतः उद्भिद् शब्द को गुणविधि न मानकर कर्मनामधेय मानना आवश्यक है।

विरुद्धत्रिकविचारः

तथा हि—'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यत्र मानान्तरेणाप्राप्तस्य यागस्यानुवादासंभवात्, पशुकर्मकभावनायां करणत्वेन यागो विधेयः—'यागेन पशून्भावयेत्, इति। ततश्च यागस्य विधेयत्वम्। फलं प्रति च शेषतया प्रतीयमानत्वाद्गुणत्वम्। शेषतया अङ्गतयेत्यर्थः। फलसिद्धयर्थं पुंसाऽनुष्ठीयमानत्वादुपादेयत्वमिति विधेयत्व-गुणत्वोपादेयत्वात्मकमेकं त्रिकं यागेऽस्ति। तथा यागोद्देशेनोद्भिद्गुणविधौ विधित्सितगुणापेक्षया प्राधान्यम्-उद्देश्यत्वम्-अनुवाद्यत्वं चेति द्वितीयं त्रिकम्। तदेतत् त्रिकद्वयं परस्परविरुद्धमेकस्मिन्यागे प्रसज्येत, अतो न गुणविधिः।

'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह विधेय वाक्य है, अनुवाद वाक्य नहीं है क्योंकि उद्भिद् याग की प्राप्ति अन्य किसी शास्त्र से नहीं होती। अन्य

किसी वाक्य से जिस याग की प्राप्ति होती है और पुनः उसका कथन किया जाता है तो वह अनुवाद कहलाता है। पशुरूप फल प्राप्ति के लिए करणत्वेन याग का विधान किया गया है। 'यागेन पशून्भावयेत्' अर्थात् उद्भिद् नामक याग के द्वारा पशुरूप फल की प्राप्ति करें। उद्भिद् नामक याग का विधान होने के कारण उद्भिद् विधेय हो जाता है। उद्भिद् याग पशुरूप फल के प्रति शेष (अङ्ग) है इसलिए उसमें गुणत्व धर्म आता है। उद्भिद् में उपादेयत्व धर्म भी है क्योंकि फल की प्राप्ति के लिए इस याग का अनुष्ठान करते हैं। इस प्रकार उद्भिद् नामक याग में विधेयत्व, गुणत्व और उपादेयत्व तीनों धर्म आ जाते हैं। इसके विपरीत याग को उद्देश्य करके उद्भिद् रूप गुण की दृष्टि से याग में प्राधान्य उद्देश्यत्व और अनुवाद्यत्व गुण आ जाएगा। इस प्रकार एक ही याग में विधेयत्व गुणत्व और उपादेयत्व तथा उद्देश्यत्व, प्रधान्य और अनुवाद्यत्व दोनों विपरीत धर्म एक साथ नहीं हो सकते। विरुद्ध त्रिकद्वयापत्ति होने से उद्भिद् को गुणवाचक न मानकर संज्ञावाचक मानना उचित है।

नच 'सोमेन यजेत' इत्यत्र विरुद्धत्रिकं विनैव सोमशब्दस्य सोमवति यागे लक्षणामङ्गीकृत्य 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्' इति सोमविशिष्टयागविधानाद्यथा सोमरूपगुणविधिः, तद्वदुद्भित्पदस्यापि मत्वर्थलक्षणयोद्भिद्विशिष्टयागविधानादत्रोद्भिद्गुणविशिष्टयागविधिः स्यादिति वाच्यम्। सोमादौ गत्यन्तराभावात् मत्वर्थलक्षणया विशिष्टविध्यङ्गीकारात्। उद्भिदादौ नामत्वेन गतिसंभवाद्विशिष्टविध्यङ्गीकारायोगात्। तस्माद्योगवशादुद्भिदादीनां नामत्वम्।

अब शंका यह उठती है कि, जैसे—'सोमेन यजेत' इस वाक्य में विरुद्ध त्रिकद्वयापत्ति होने पर भी मत्वर्थ लक्षण के द्वारा सोम में सोमलता की कल्पना करके 'सोमलताविशिष्टेन यागेन इष्टं भावयेत' सोमलतारूप गुण का भी विधान किया गया है तथा सोम नामक विशष्ट याग का भी विधान किया गया है। उसी तरह 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य मे भी उद्भिद् पद में मत्वर्थ लक्षणा करके, उस वाक्य के द्वारा उद्भिद् नामक याग का विधान मान लेना चाहिए तथा उद्भिद् को गुणविधि भी मान लेना चाहिए।

उपर्युक्त शंका का समाधान इस प्रकार करते हैं कि 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में 'सोम' पद की व्याख्या अन्य किसी वाक्यार्थ के द्वारा नहीं

की जा सकती। सोम शब्द की यौगिक व्याख्या संभव नहीं है इसीलिए मत्वर्थ लक्षणा करनी पड़ती है, किन्तु 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' की यौगिक व्याख्या संभव है, 'उद्भिद्यते फलमनेन' इस यौगिक अर्थ से 'उद्भिद्' शब्द उद्भिद् नामक याग का वाचक सिद्ध होता है अतः इसको अन्य विशिष्ट-विधि मानने की आवश्यकता नहीं है।

वाक्यभेदयान्नामत्वम्

तथा 'चित्रया यजेत पशुकामः'; इत्यत्र चित्रापदं (वाक्यभेदभयात्) प्राजापत्ययागनामधेयम्। 'दधि मधु घृतमापो धानास्तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' इत्यत्र 'तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' इति सामानाधिकरण्याद्यो दध्यादिद्रव्यषट्कस्य प्रजापतिदेवतासंबन्धः श्रुतस्तेनानुमितो यागो विधीयते। विहितस्य यागस्य फलाकाङ्क्षायां 'चित्रया यजेत' इति वाक्यं फलसंबन्धविधायकम्। तत्र फलार्थत्वेन पुनर्विधिरिति तस्य प्राजापत्ययागस्य दध्यादिविचित्रद्रव्यकत्वाच्चित्रापदं कर्मनामधेयम्। न तु 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति वाक्यप्राप्तं पशुयागं 'यजेत' इत्यनूद्य चित्रत्वस्त्रीत्वगुणद्वयविधानम्। मानान्तरप्राप्तं कर्मोद्दिश्य तत्रानेकगुणविधाने वाक्यभेदात्। तदुक्तम्—'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः' इति। मानान्तराप्राप्ते कर्मणि त्वनेकदेवताष्टाकपालपुरोडाशमावास्यापौर्णमास्याद्यनेकगुणविशिष्टो द्रव्यदेवतासंबन्धेनानुमितो यागो विधीयते इति सिद्धान्तः। तदुक्तम्—'अप्राप्ते पु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः' इति।]

'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य में चित्रा पद प्रजापत्य याग का नामधेय है। 'दधि, मधुघृतमापो धानास्तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्रजापत्यम्' 'दधि, मधु, घी, जल, धान और तण्डुल' इन छः द्रव्यों का प्रजापति देवता के साथ समानाधिकरण्य बतलाया गया है। प्रजापति देवता के लिए इन द्रव्यों की सम्मिलित हवि दी जाती है। छः द्रव्यों का देवता के साथ संबन्ध ज्ञात होने पर अनुमित (कल्पित) याग का विधान किया जाता है। अनुमित याग का विधान 'दधि मधु धृतम्' आदि वाक्य के द्वारा करते हैं। याग का विधान होने के बाद फल की आकांक्षा होने पर 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य के द्वारा याग का फल के साथ सम्बन्ध का विधान किया गया हैं। 'फलावर्थत्वेन पुनर्विधिः' इस नियम के अनुसार प्रजापति याग का पुनः फल की दृष्टि से विधान किया गया है। दधि

आदि छः द्रव्यों से युक्त होने के कारण इसका नाम चित्रा याग पड़ा है। संक्षेप में चित्रा पद यागकर्म का नामधेय है।

अब शङ्का यह उठती है कि 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इस याग में पशुरूप फल की प्राप्ति का उल्लेख किया गया है, अतः 'चित्रया यजेत पशुकामः' चित्रया इस पद का चित्रत्व और स्त्रीत्व रूप गुणद्वय के रूप में क्यों नहीं विधान कर देते हैं ?

इसका समाधान यह है कि प्रमाणान्तर से प्राप्त कर्म को उद्देश्य करके उनमें अनेक गुणों का विधान करने पर वाक्यभेद हो जाएगा जैसा कि वार्त्तिक में भी कहा गया है। 'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः' अन्य प्रमाण से प्राप्त कर्म में अनेक गुणों का विधान नहीं कर सकते। जहाँ कर्म ज्ञात नहीं हैं वहाँ कल्पित याग का विधान किया जाता है किन्तु जहाँ कर्म ज्ञात है वहाँ अनेक गुणों का विधान नहीं कर सकते। अज्ञात कर्म में देवता 'अष्टकपाल, पुरोडाश, अमावस्या, पौर्णमासी आदि अनेक गुणों से युक्त द्रव्य और देवता संबन्ध से अनुमित (कल्पित) याग का विधान करने से वाक्यभेद दोष नहीं होता जैसा कि मीमांसकों का सिद्धान्त है—'अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः'। इति प्रमाणान्तर से जिस कर्म की प्राप्ति नहीं होती उसमें अनेक गुणों का विधान कर सकते हैं।

व्याख्या—'चित्रया यजेत पशुकामः' में चित्रा शब्द याग का नाम है। इसके द्वारा यहाँ गुण विशिष्ट याग का विधान किया गया है क्योंकि 'दधि मधु घृतमापो धानास्तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' इस वाक्य के द्वारा गुण का विधान किया जा चुका है, तब 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य के द्वारा पुनः गुण का विधान क्यों किया जाय, अतः चित्रा को याग पद का नामधेय मानते हैं। यदि एक ही वाक्य में फल और गुण दोनों का कथन करेंगे तब वाक्य भेद दोष आ जाएगा।

अथ–यथा 'पशुना यजेत' इत्यत्र मानान्तरप्राप्तयागमुद्दिश्य तदङ्गतया 'पशुना' इत्येकपदोपात्तानां पशुद्रव्यतद्गतलिङ्गसंख्यानां त्रयाणां वाक्यभेदं विनैव विधिरङ्गीकृतः, तद्वदत्राप्येकपदोपात्तचित्रत्व-स्त्रीत्व-विशेषितपशुद्रव्यकारकस्य विधानान्न वाक्यभेदः। अत एव तत्र विधेयस्य पशोरुपादेयत्वात्तद्गतमेकत्वं यज्ञाङ्गतया विवक्षितमित्येकेनैव पशुना यष्टव्यम्, 'ग्रहं संमार्ष्टि' इत्यत्र उद्देश्यगतत्वादेकत्वमविवक्षितमिति सिद्धान्तप्रवादः। कथं, 'ग्रहं संमार्ष्टि' इत्यत्र 'ग्रहम्' इति द्वितीयया

ग्रहस्येप्सिततमत्वेनोद्देश्यत्वात्, प्रयोजनवत्वाच्च प्राधान्यं गम्यते। संमार्गस्तु ग्रहं प्रति गुणभूतः। 'प्रतिप्रधानं गुण आवर्तनीयः' इति न्यायात् 'यावन्तो ग्रहास्तेषां सर्वेषां संमार्गः' इति निश्चये सति, कति ग्रहा संमार्जनीयाः' इति बुभुत्साया अभावादुद्देश्यगतमेकत्वं श्रूयमाणमप्यविवक्षितम्। 'यद्युच्येत नेदमुद्देश्यगतं किंतु स्वयं विधेयम्—ग्रहं संमृज्यात्' 'यं संमृज्यात्तं चैकम्' इति। तथा सति विधेयभेदाद्वाक्यभेदः स्यात्। तथाबुभुत्साया अभावात् विधानाऽयोगाच्चोद्देश्यगता सङ्ख्या न विवक्षिता।

जिस प्रकार 'पशुना यजेत' इस वाक्य में अन्य प्रमाण 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इस वाक्य से प्राप्त याग को उद्देश्य करके 'पशुना' इस एक पद के द्वारा पशु, द्रव्य, उसके लिङ्ग (पुलिङ्ग) और एकत्व संख्या रूप वाक्य भेद न मानकर याग का विधान मान लेते हैं। इसी प्रकार 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य में वाक्य भेद होने पर भी वाक्यभेद नहीं मानना चाहिए। संक्षप में यहाँ यह शङ्का करते हैं कि 'चित्रया यजेत पशुकामः' यहाँ पर चित्रा पद वाक्यभेद दोष हो जाने के कारण याग नाम परक नहीं हो सकता। इस शङ्का का समाधान आगे करेंगे। यहाँ एक दूसरी शङ्का यह करते हैं कि 'पशुना यजेत पशुकामः' इस वाक्य में जिस प्रकार पशु शब्द में एकत्व की (एकवचन) की विवक्षा की गयी है उसी प्रकार 'ग्रहं सम्मार्ष्टिः' इस वाक्य में भी यज्ञीय पात्रों को उद्देश्य करके तद्गत एकत्व की विवक्षा क्यों नहीं करते। 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' का अर्थ होता है—यज्ञीय पात्रों को साफ करें; यहाँ एकत्व की विवक्षा नहीं है अतः, ग्रह नामक सभी पात्रों को परिमार्जित करें, ऐसा अर्थ निकलता है।

इस शङ्का का समाधान इस प्रकार करते हैं कि 'ग्रहं संमार्ष्टिः' इस वाक्य में ग्रहं में द्वितीया विभक्ति लगी है इससे 'ग्रह' शब्द की 'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म' के अनुसार इप्सिततम होने के कारण कर्म संज्ञा हो गयी। जो इप्सिततम होता है वह उद्देश्य भी होता है। ग्रह सम्मार्जन का प्रयोजन भी है अतः, ग्रह में उद्देश्यत्व और प्रयोजनत्व धर्म है इसलिए वह प्राधान्य भी है। ग्रह के प्रति संमार्ग गुण है, अतः 'प्रतिप्रधानं गुणम् आवर्तनीयः' इस नियम के अनुसार जितने भी प्रधान हैं, उनके प्रति उनके अङ्ग की आवृत्ति करनी चाहिए अर्थात् प्रत्येक प्रधान के साथ उसके गुण या अङ्ग का विधान होना चाहिए। अतः जितने भी ग्रह है सबका संमार्ग होगा, ऐसा नियम बना अर्थात् जितने भी सोमरस यज्ञीय पात्र हैं उन

सबका सम्मार्जन होना चाहिए। 'कति ग्रहाः सम्मार्जनीयाः' ऐसी जिज्ञासा न होने से ग्रहगत एकत्व का श्रवण होने पर भी उसकी विवक्षा नहीं होती।

यदि यह शङ्का की जाय कि एकत्व, उद्देश्य नहीं विधेय है अतः, 'ग्रह संमृज्यात्' 'यं संमृज्यात्तं चैकम्' इति इन वाक्यों से एकत्व की ही विवक्षा होती है। जिस ग्रह पात्र का सम्मार्जन करना है वह एक है तो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से विधेय भेद से वाक्य भेद हो जाएगा।

साथ ही 'ग्रहं सम्मार्ष्टिः' यहाँ एक ग्रह का सम्मार्जन करना है या दो का ऐसी जिज्ञासा नहीं होती है, अतः ग्रहं में उद्देश्यगत एकत्व संख्या की विवक्षा नहीं होती।

उद्देश्यगतमपि विशेषणं किंचिद्विवक्षितं यस्य विशेषणस्य विवक्षां विना उद्देश्यप्रतीतिर्न पर्यवस्यति। यथा--तत्रैव ग्रहत्वं विवक्षितम्। तद्विवक्षां विना उद्देश्यस्वरूपस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। तेन ग्रहजातीयसाधनकसोमयागापूर्वार्थत्वाच्चामसेषु न संमार्ग इति स्थितम्।

उद्देश्यगत उसी विशेषण की विवक्षा होती है जिस विशेषण की विवक्षा के बिना उद्देश्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। जैसे 'ग्रहं सम्मार्ष्टिः' में एकत्व संख्या तो विवक्षित नहीं है किन्तु ग्रहत्व जातिगत विशेषण है क्योंकि ग्रहत्व धर्म की विशेषता के बिना उद्देश्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सोमयाग में अपूर्व की सिद्धि के लिए 'ग्रहं सम्मार्ष्टिः' इस वाक्य से ग्रह नामक सोमरस के यज्ञीय पात्रों को ही धोने का विधान किया गया है न कि ग्रह जातीय चमस नामक पात्रों के धोने का। क्योंकि चमस पात्रों में ग्रहत्व धर्म नहीं है अपितु चमसत्व धर्म है।

'पशुना यजेत' इत्यत्र यागं प्रति पशुर्विधेयत्वाद्गुणभूतः। प्रतिगुणं प्रधानावृत्तिर्नास्तीति कियद्भिः पशुभिः यागः कर्तव्य इत्याकाङ्क्षायां एकवचनेन प्रतीयमानं विधेयगतमेकत्वं विवक्षितं बुभुत्सितत्वात्।

'पशुना यजेत' यहाँ याग के प्रति पशु विधेय होने के कारण गुणभूत है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि प्रत्येक गुण के साथ प्रधान की आवृत्ति करनी चाहिए। कितने पशुओं के साथ याग करना चाहिए ऐसी आकांक्षा

होने पर 'पशुना' इस तृतीयान्त एकवचन के द्वारा प्रतीयमान विधेय पशु में एकत्व की विवक्षा की गयी है।

(पूर्वमीमांसा अध्याय ४ पाद—१ अधिकरण—५ में इसका विस्तार विवेचन किया गया है।

किंच लिङ्गसंख्याविशेषितस्य पशुद्रव्यरूपकारकस्य एकपदोपात्तस्य विधेयत्वाद्विधेयपशुद्वारा तद्गतलिङ्गसंख्यादेरपि क्रियाङ्गत्वादेकत्वं विवक्षितम्। अथवा तृतीयया विभक्त्याऽभिहितयोर्लिङ्गसंख्ययोर्विभक्त्यभिहिततया करणकारकशक्त्याऽऽत्मसात्कृतयोः प्रातिपदिकार्थपशुद्रव्येण संबन्धमनादृत्य तद्वदेव साक्षात्क्रियाङ्गत्वेन विधाने सति पश्चादरुणैकहायनीन्यायेन परस्परमन्वयः—यागाङ्गत्वेन विहितो यः पशुः स एकः पुमांश्चेति।

दूसरा कारण यह है कि 'पशुना यजेत' में याग के प्रति पशु विधेय है याग उद्देश्य है लिंग (पुलिङ्ग) और संख्या (एकत्व) रूप विशेषण से विशिष्ट एकपदोपात्त पशुद्रव्यरूपकारक का विधान वाक्यभेद के बिना ही हो सकता है। विधेय पशु में एकत्व की विवक्षा होती है; अतः उसमें रहने वाले लिङ्ग और संख्या में भी एकत्व की विवक्षा होगी क्योंकि वह क्रिया का अङ्ग है। अथवा उसको दूसरे ढङ्ग से इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि— 'पशुना' इस तृतीया विभक्ति के द्वारा पशु शब्द में लिङ्ग और संख्या का प्रतिपादन किया गया है तथा तृतीया विभक्ति से करण कारक का भी अभिधान किया गया है क्योंकि करण कारक की शक्ति का अभिधान तृतीया विभक्ति के द्वारा होता है। 'पशुना' पद से पुंसत्व लिङ् का भी अभिधान होता है, स्त्रीत्व का विधान नहीं है। 'पशुना यजेत' इस पद से यह बोध होता है कि एक संख्या वाले पुमान् विधेय पशु से याग करें, करण कारक ने अपनी शक्ति से संख्या (एकत्व) और लिङ्ग (पुलिङ्ग) दोनों अर्थों को अपने में आत्मसात् कर लिया है। अतः याग क्रिया अङ्ग केवल पशु नहीं है। इसका एकत्व विशिष्ट और पुंसत्व विशिष्ट पशु का साक्षात् क्रिया के साथ अन्वय किया जाता है। अरुणत्व एकाहायनत्वादि की तरह इनका परस्पर अन्वय हो जाता है।

यथा 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति'-इत्यत्र कारकाणां क्रियान्वयनियमात् करणविभक्तिभिरारुण्यपिङ्गाक्षीत्वादीनां चतुर्णां परस्परमनन्वितानामेव सोमक्रयणाङ्गत्वेनान्वये सति आरुण्यादेर्गुणस्यामूर्तस्य स्वतः क्रियासाधनत्वायोगात् क्रियासाधनैकहायनीगोप-

रिच्छेदकत्वेन पश्चात् परस्परं पार्ष्णिकान्वयः—या एकहायनी गौः सा पिङ्गाक्षी अरुणेति तद्वत् ।

यथा 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' (पिङ्गाक्षी और अरुण रङ्ग की एक वर्ष की गाय से सोम खरीदना चाहिये) इस वाक्य में 'कारकाणां क्रियान्वयनियमात्' (कारकों का क्रिया के साथ अन्वय होता है; ऐसा नियम है) इस नियम के अनुसार अरुणत्व, पिङ्गाक्षीत्व, एकहायनत्व, गोत्व इन चार कारकों का परस्पर अन्वय नहीं हो सकता अपितु सोमक्रयण के अङ्ग रूप में इनका अन्वय होता है। अरुणत्वादि सभी विशेषण अमूर्त हैं अतः, ये साक्षात् क्रिया के साधन नहीं बन सकते अपितु साक्षात् क्रयण क्रिया के साधनभूत एकहायनी गौ के विशेषण बनकर पश्चात् अर्थात् परम्परया मुख्य क्रिया से अन्वित (सम्बन्धित) होते हैं।

अब शङ्का यह करते हैं कि उपर्युक्त नियम से 'पशुना यजेत' इस वाक्य में भी एकत्व संख्या और पुंसत्व लिङ्ग का परम्परया साक्षात् क्रिया के साथ अन्वय करते हैं, इसी प्रकार 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य में भी स्त्रीत्व और चित्रत्व का परम्परया अन्वय क्यों नहीं कर लेते ?

तदेवमुद्देश्यगतविशेषणमविवक्षितम्, उपादेयगतं विवक्षितमिति स्थितम्। एवं च चित्रापदेन चित्रत्वस्त्रीत्वोभयविशेषितपशुकारकस्य यजेतेतिपदानूदितेऽग्नीषोमीयपशुयागे विधातुं शक्यत्वात् कथं नामत्वमिति चेत्,—न ।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो गया कि उद्देश्यगत विशेषण की विवक्षा नहीं होती इस सिद्धान्त को मान लेने पर 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य में चित्रा पद से चित्रत्व और स्त्रीत्व दोनों विशेषणों से विशेषित पशुरूप कारक का विधान कर सकते हैं तथा 'यजेत' इस पद के द्वारा अग्निषोमीय पशुयाग का अनुवाद करके वाक्यभेद के बिना ही उसमें चित्रत्व और स्त्रीत्व दोनों का विधान मान सकते हैं, इस तरह चित्रा पद प्रजापत्य याग का पर्यायवाची कैसे बन सकता है ?

तथा सति प्रकृतस्य प्राजापत्ययागस्य फलसम्बन्धकाङ्क्षस्य हानम्, अप्रकृतस्याऽग्नीषोमीययागस्य कल्पना च स्यात्। तदद्वयमयुक्तम्; तस्माच्चित्रापदं कर्मनामधेयम्। एवं तत्प्रख्यादिभिरन्यतमेन सर्वत्र कर्मनामत्वमूह्यम्। इत्थं विधिवाक्यस्य प्रामाण्यं विचारितम्।

उपर्युक्त शङ्का का समाधान इस प्रकार करते हैं कि चित्रा पद से चित्रत्व और स्त्रीत्व इन दोनों विशेषणों से विशिष्ट पशुयाग का विधान मान लेने पर प्रकृत (प्रासङ्गिक) इस प्रकरण में उपस्थित प्रजापत्य याग की फल सम्बन्धी आकांक्षा का परित्याग करना पड़ेगा तथा उस फल सम्बन्धाकांक्षा की पूर्ति के लिए अप्रकृत अप्राकरणिक अग्निषोमीय याग की कल्पना करनी पड़ेगी। मीमांसा शास्त्र के अनुसार उपस्थित का परित्याग और अनुपस्थित की कल्पना करना समुचित नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य में चित्रा पद याग का नामधेय है। इस प्रकार तत्प्रख्यादि चारों हेतुओं के द्वारा तत् तत् यागो के नाम को जान लेना चाहिए। इस प्रकार विधि वाक्य के प्रामाण्य का विचार हुआ।

अर्थवादविचारः

अथार्थवादो विचार्यते। अर्थवादानां तु स्वार्थपरत्वे प्रयोजनाभावादध्ययनविधिवशेन फलवदर्थज्ञानार्थत्वस्यावश्यकत्वाद्विधेयगतप्राशस्त्यप्रतिपादनद्वारा विध्येकवाक्यतया प्रामाण्यम्। स च चतुर्विधः—निन्दा-प्रशंसा-परकृति-पुराकल्पभेदात्।

इसके बाद अर्थवाद पर विचार करते हैं। अर्थवाद वाक्यों को स्वार्थ प्रतिपादक मान लेने पर उनका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता क्योंकि अर्थवाद वाक्य सिद्ध अर्थ के प्रतिपादक होते हैं। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधि के द्वारा अर्थवाद वाक्य भी स्वाध्याय के अङ्ग हुए अतः इनका भी कोई न कोई फल अवश्य होगा। साथ ही अर्थवाद वाक्य सार्थक है, अतः इनके अर्थ का ज्ञान भी आवश्यक है। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य विधेय की प्रशंसा और निषेध्य की निन्दा करते हुए विधि और निषेध वाक्यों के साथ एक वाक्यता स्थापित करते हुए प्रामाणिक हो जाते हैं ये अर्थवाद वाक्य चार प्रकार के होते हैं—निन्दा, प्रशंसा, परकृति पुराकल्प।

व्याख्या—अर्थवाद निष्प्रयोजन नहीं है जैसा कि पहले बताया जा चुका है 'स्वाध्योऽध्येतव्यः' के अनुसार समस्त वेद का अध्ययन करना चाहिए और उसमें अर्थवाद वाक्य भी आ जाता है। जब कोई वेद वाक्य निरर्थक नहीं होता तब अर्थवाद वाक्य को हम निरर्थक कैसे मान सकते हैं?

वस्तुतः विधिवाक्य के रहने पर भी आलस्य के कारण कभी-कभी मनुष्य उसमें प्रवृत्त नहीं होता। अर्थवाद विधिवाक्य में प्रतिपादित कर्म की प्रशंसा करके उस कार्य में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करता है। तथा निषेध्य, कर्म की निन्दा करके उस कर्म के प्रति उत्साहित होने वाले व्यक्ति को उस कार्य से विरत करता है।

१. निन्दा

तत्र निन्दार्थवादो यथा—असत्त्रं वा एतद्यदच्छन्दोमम्', 'अश्रुजं हि रजतं, यो बर्हिषि ददाति पुरास्य संवत्सराद्गृहे रुदन्ति' इत्यादिः।

उदाहरण के द्वारा निन्दार्थवाद को स्पष्ट करते हैं

१. 'असत्रं वा एतद्यदच्छन्दोमम्' यह निन्दा रूप अर्थवाद का प्रथम उदाहरण देते हैं वह सत्र (यज्ञ) यज्ञ नहीं है—जिसमें छन्दोमस्तोम का गान न हो।

२. निन्दा अर्थवाद का दूसरा उदाहरण देते हैं 'अश्रुजं हि रजतो यो बर्हिषि ददाति पुरास्य संवत्सराद्गृहे रूदन्ति इत्यादिः। जो व्यक्ति र्बाह याग में रजतदान करता है, उसके घर सालभर के भीतर रुदन होता है। वेद निषेध वाक्य इस प्रकार है 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस साधारण निषेध वाक्य कों निन्दारूप अर्थवाद वाक्य ऐसे ढंग से निन्दा कर देता है कि जो र्बाह याग में रजत दान करेगा उसके घर साल भर के अन्दर ऐसा अनिष्ट होगा कि उसे रोना होगा। ऐसी स्थिति में उस कार्य के प्रति मनुष्य की एकदम प्रवृत्ति नहीं होती, इस निषेध वाक्य का पूरक वाक्य यह भी है कि 'सोऽरोदीदिति यद रोदीत तद रुद्रस्य रुद्रत्वम्' वह (शंकर भगवान) रोये और उनके रोने से जो आँसू गिरा वह चाँदी बन गया इसलिए उनका नाम रुद्र पड़ा। यही रुद्र की रुद्रता है। इन वाक्यों की सार्थकता निषेध्य रजतादि की निन्दा का बोध होने पर ही है।

२. प्रशंसा

प्रशंसा यथा—'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद', वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' इत्येवमादिः।

प्रशंसा रूप अर्थवाद वाक्य का भी दो उदाहरण देते हैं।

१. शोभतेऽस्यमुखं य एवं वेद। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः आदि जो विधि वाक्य हैं उससे यह ज्ञात होता है कि स्वाध्याय के लिए अध्ययन करना

चाहिए। अध्ययन करते समय कठिन परिश्रम करने से मुह सूख जाता है, अतः श्रम साध्य कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु अर्थवाद वाक्य प्रशंसा के द्वारा व्यक्ति को वेदाध्ययन में प्रवृत्त कर देता है कि जो व्यक्ति इसे जानता है उसका मुख सुशोभित होता है।

२. 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति।'

इसका विधि वाक्य यह है कि 'वायव्यं श्वेतमालभेतभूतिकाम' अर्थात् भूति की इच्छा रखने वाले वायु देवता के लिए श्वेत पशु का आलम्भन करें। किन्तु उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य 'वायु शीघ्रगामी देवता है, अतः जो यजमान अपने द्रव्य को वायु देवता के निमित्त आहुति देता है, वह देवता उस यजमान को प्रसन्न होकर भूति देते हैं', वायु देवता को शीघ्रगामी बताकर उनकी प्रशंसा करता है कि शीघ्रगामी देवता वायु को जो आहुति देता है वह उसको उतनी ही शीघ्रता से दौड़कर फल देता है। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य प्रशंसा के द्वारा व्यक्ति को उस कार्य में शीघ्र प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है।

३. परकृति

परेण महता पुरुषेणेदं कर्म कृतमिति प्रतिपादकोऽर्थवादः परकृतिः-यथा 'अग्निर्वा अकामयत इत्यादिः।

किसी अन्य महान पुरुष के द्वारा इस कार्य का अनुष्ठान किया गया है, इस तरह के अर्थ के प्रतिपादक अर्थवाद को परकृति कहते हैं, जैसे 'अग्निर्वा अकामयत' अग्निदेवता ने इच्छा की कि मैं देवताओं का अन्नदाता बनूँ। इसलिए अग्नि देवता ने यह याग किया और वह अन्नादि बने। चूंकि अग्नि जैसे महान देवता ने अन्नदाता बनने के लिए ऐसा कार्य किया अतः अन्य लोगों को भी ऐसा करना चाहिए। यह अर्थवाद वाक्य अग्नि देवता के कार्य का उल्लेख करके उसको अन्य व्यक्ति को करने के लिए प्रेरित करना है अतः, यह परकृत्यर्थवाद का उदाहरण है।

४. पुराकल्प

परप्रवक्तृकार्थादिप्रतिपादकः पुराकल्पः यथा—'तमशपद्धिया धिया त्वा वध्यासुः' इत्यादिः।

अन्य व्यक्ति द्वारा विज्ञापित अर्थ का जो प्रतिपादन करता है उस वाक्य को पुराकल्प कहते हैं इसका उदाहरण देते हैं—'देवासुराः संय्यताः

आसन्। तमशपत् धिया धिया त्वा वध्यासुः' प्राचीन काल में देवताओं और असुरों का संग्राम हुआ। देवता लोग असुरों से डरकर जल में छिप गए। यह बात मछलियों ने असुरों के पूछने पर उनसे बता दिया कि देवता लोग जल में छिपे हुए हैं। इस पर देवताओं ने श्राप दिया कि मनुष्य जहाँ भी तुम्हें देखे वहीं मार डालें। यह अर्थवाद वाक्य देवताओं द्वारा विज्ञापित अर्थ का प्रतिवादन करता है, अतः यह पुराकल्प का उदाहरण है।

तत्र निन्दार्थवादस्य विधेयान्यनिन्दाद्वारा विधेयप्राशस्त्यपरत्वम्। 'अश्रुजम्' इत्यादिरजतनिन्दाद्वारा च विधेयभूतरजतदाननिषेधप्राशस्त्यपरत्वे विरोधाभावात्। इतरेषां त्रयाणां साक्षात्प्राशस्त्यपरत्वमेव। 'वायुर्वै' इत्यर्थवादस्य वायुः क्षिप्रगामित्वादतीव प्रशस्ता देवता, अतस्तद्दैवत्यं कर्म प्रशस्तमिति विधेयदेवतागतप्राशस्त्यप्रतिपादनद्वारा विध्येकवाक्यत्वम्।

निन्दा अर्थवाद वाक्य विधेय से भिन्न (निषेध्य) की निन्दा के द्वारा (अपरोक्ष) रूप से विधेय की प्रशंसा करता है। जैसे 'अश्रुजम् हि रजतं' इस वाक्य के द्वारा रजत दान की जो निन्दा की गई है वह वस्तुतः विधेयभूत रजतदान निषेध की प्रशंसा करता है। निन्दा अर्थवाद वाक्य को परम्परया प्राशस्त्य का वाचक मान लेने पर कोई विरोध नहीं है। अन्य तीन अर्थवाद प्रशंसा, परकृति और पुराकल्प साक्षात्, प्राशस्त्य परक है 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद वाक्य में वायु को शीघ्रगामी देवता बताकर वायु को अत्यन्त प्रशस्त देवता बताया गया है। वायु देवता के निमित्त जो कर्म होता है वह भी प्रशस्त है। इस प्रकार विधेय स्वरूप वायु देवता के प्राशस्त्य का प्रतिपादन करते हुए अर्थवाद वाक्य विधि वाक्य के साथ एकवाक्यता को प्राप्त करता है।

'अग्निर्वा अकामयत' इत्यस्य' अग्निदैवत्यो यागः पूर्वकाले अग्निनाकृतत्वात्प्रशस्तः, आस्तिक्यादिदानीमप्यन्यैर्यजमानैरवश्यं कर्तव्य इति विधेयकर्मगतप्राशस्त्यद्वारा विध्येकवाक्यत्वम्। एवमन्यात्राप्यूह्यम्।

'अग्निर्वा अकामयत' इस अर्थवाद वाक्य में यह बतलाया गया है कि पूर्वकाल में अग्नि देवता ने स्वयं अग्निदेवता के निमित्त याग किया। इस कारण यह याग प्रशस्त है। प्रशस्त होने के कारण अन्य आस्तिकता से सम्पन्न यजमानों के द्वारा इस प्रकार का अनुष्ठान अवश्य किया जाना

चाहिए। इस प्रकार विधेय कर्म की प्रशंसा के माध्यम से अर्थवाद वाक्य विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता को प्राप्त करता है। इसी प्रकार अन्य अर्थवादों को भी समझना चाहिए।

क्वचित्कार्यान्तरमप्यस्ति; यथा—'अक्ताः शर्करा उपदधाति' इति विधौ 'अक्ताः' इति पदेन, द्रवद्रव्यसामान्यं प्रतीयते। तच्च द्रव्यं किमिति संदेहे 'तेजो वै घृतम्' इत्यर्थवादाद् घृतमिति निश्चीयते इति, 'तेजो वै घृतम्' इत्यर्थवादस्य संदिग्धार्थनिर्णायकत्वेन प्रामाण्यम्। इत्यर्थवादविचारः।

कहीं-कहीं अर्थवाद वाक्य निन्दा और स्तुति के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करते हैं। जैसे–'अक्ताः शर्करा उपदधाति' इति। यहाँ पर (अक्ताः) इस पद के द्वारा द्रव्य सामान्य की प्रतीति होती है। वेदी में आहवनीय अग्नि को रखने के लिए एक कुण्ड बनाते हैं उसे 'स्थण्डिल' कहते हैं उसके लिए चार फुट जमीन खोदकर नींव बनाते हैं उस नींव में कंकरीट डालते हैं। अब यहाँ यह शङ्का उठती है कि 'शर्करा' (कंकरीट) को किस द्रव द्रव्य से 'आक्त' (गीला) करें जल से, तेल से या घी से? तो 'तेजो वै घृतम्' यह अर्थवाद वाक्य इस शङ्का का निवारण कर देता है इस वाक्य में प्रयुक्त घृत शब्द यह बोध करा देता है कि घृत के द्वारा शर्करा (कंकरीट) को आक्त (गीला) करके स्थण्डिल (नींव) में डालना चाहिए। इस प्रकार 'तेजो वै घृतम्' यह अर्थवाद वाक्य विधिवाक्य के संदेह का निवारण करता है अतः यह प्रामाणिक है।

व्याख्या—अर्थसङ्ग्रहकार ने प्रकारान्तर से अर्थवाद का अन्य तीन भेद किया है—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद।

मन्त्रविचारः

अथ **मन्त्रविचारः। मन्त्राणामप्यध्ययनविधिना कृत्स्नस्वाध्यायस्य फलवदर्थज्ञानार्थत्वमेव, न त्वदृष्टार्थत्वम्। दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पनाऽयोगात्। प्रयोगकाले कर्मज्ञानं विना कर्मानुष्ठानायोगात् कर्मौपयिकमर्थज्ञानं मन्त्रैः क्रियते।**

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययन विधि की तरह मन्त्रों के उच्चारण का भी यही फल है कि वेद के अर्थ का ज्ञान कराना, मन्त्रोच्चारण जन्य अदृष्ट फल नहीं है क्योंकि मीमांसा शास्त्र के अनुसार यह नियम है कि जब दृष्ट या लौकिक फल की प्राप्ति हो जाती है तब अदृष्ट या अलौकिक

फल की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। मन्त्र की दूसरी विशेषता यह है कि मन्त्र कर्मोपयोगी होते हैं। प्रयोग काल में यज्ञ करते समय कर्म के विषय में बिना जाने हम कर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकते और कर्म सम्बन्धी अर्थ ज्ञान हमें मन्त्रों के द्वारा ही होता है।

व्याख्या—मीमांसा शास्त्र में मन्त्र की परिभाषा की गई है 'कर्मस्मारकाः मन्त्राः' कात्यायन श्रौतसूत्र में मन्त्र के तीन भेद बतलाये गये हैं—

मन्त्रास्त्रिविधाः करणमन्त्राः, क्रियमाणानुवादिनो, जपमन्त्राश्च। यं मन्त्रं पूर्वमुच्चार्य मन्त्रान्ते कर्म क्रियते ते करणमन्त्राः। क्रियमाणकाले एव यः पठ्यते स क्रियमाणानुवादी मन्त्रः। अदृष्टार्थकर्मकाले पठनीया मन्त्राः जपमन्त्राः।

अर्थसंग्रहकार ने मन्त्र का लक्षण किया है।

'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः' कर्मानुष्ठान से सम्बद्ध अर्थ, द्रव्य, देवता आदि का स्मरण कराने वाला वेद भाग मन्त्र है।

पार्थसारथिमिश्र ने मन्त्र का निम्न लक्षण किया है।

अभियुक्तप्रसिद्धया हि मन्त्रत्वमवकल्प्यते।
स्वाध्यायकाले तेषाञ्च समाम्नातेषु मन्त्रधीः॥
मन्त्रानध्यापयामोऽद्य तथा मन्त्रानधीमहे।
समाम्नानवहिर्भूत ऊहादौ नास्ति मन्त्रधीः॥

जो मन्त्र कर्मानुष्ठान के पूर्व उच्चरित होते हैं उन्हें करण मन्त्र कहते हैं। जो मन्त्र कर्म का अनुष्ठान करते समय उच्चरित होते हैं उन्हें क्रियमाणानुवादी मन्त्र कहते हैं। जिस मन्त्र का पाठ अदृष्टार्थ कर्मकाल में होता है वह जप मन्त्र है।

कुछ मन्त्र अनुष्ठान स्मारक होते हैं, कुछ स्तुतिरूप, प्रश्नरूप और कुछ उत्तररूप किन्तु सभी मन्त्र अनुष्ठानोपयोगी अर्थ का ही ज्ञान कराते हैं।

न चोपदेष्टृवचनादिनाप्यर्थस्मरणसंभवादनुष्ठानोपपत्तिरिति वाच्यम्। मन्त्रैरेवार्थं स्मृत्वानुष्ठाने सति फलं संभवति नान्यथेति नियमाङ्गीकारात्, नियमेनादृष्टस्याङ्गीकारात्, तदभावे तज्जन्यादृष्टलोपे तन्मूलकं फलं न सिद्धयतीति कल्पनात्।

यदि यहाँ कोई यह शङ्का करता है कि जिस प्रकार यज्ञ करते समय मन्त्रों के द्वारा अर्थ का स्मरण होता है, उसी प्रकार उपदेष्टा के वचन

द्वारा अर्थ का स्मरण कराकर यजमान की कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

इसका समाधान मीमांसक इस प्रकार करते हैं कि मन्त्र के द्वारा अर्थ का स्मरण कराकर अनुष्ठान करने से ही फल की प्राप्ति होती है, अन्य किसी उपदेष्टादि के द्वारा अर्थ स्मरण कराने से फल की प्राप्ति नहीं होती। मीमांसा शास्त्र का यह नियम है कि मन्त्रों के द्वारा अर्थ का स्मरण करके अनुष्ठान करने से अदृष्ट उत्पन्न होता है जिससे फल की प्राप्ति होती है। उपर्युक्त नियम से अनुष्ठान न करने पर अदृष्ट की उत्पत्ति नहीं होगी तथा अदृष्ट के अभाव में फल की भी प्राप्ति नहीं होगी।

नन्वेवं मन्त्राणां स्वप्रकाश्येऽर्थे विनियोग इति फलितम्। विनियोगः नाम शेषत्वेनान्वयः। शेषत्वं नामाङ्गत्वम्। ततश्च 'इमामगृभ्णन् रशनाम्' इति मन्त्रस्य रशनाग्रहणसामर्थ्यमस्तीति रशनाग्रहणप्रकाशनसामार्थ्यरूपा-ल्लिङ्गादेव रशनाग्रहणाङ्गत्वोपपत्तेः 'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधा-नीमादत्ते' इति वचनं किमर्थमिति चेत्,—न; परिसंख्यार्थत्वात्। चयन-प्रकरणेऽश्वरशनाग्रहणं गर्दभरशनाग्रहणं चेति द्वयमस्ति। तत्र लिङ्गादश्वर-शनायां मन्त्रप्राप्तावुच्यमानायां लिङ्गाविशेषाद्गर्दभरशनायामपि मन्त्रः प्राप्तः। अतोऽश्वरशनायामेव मन्त्रः कार्यो न गर्दभरशनायामिति मन्त्र-निवृत्तिरूपपरिसंख्यार्थोऽयं विधिः।

अब पुनः यहाँ यह शङ्का उठाते हैं कि उपर्युक्त नियम मानने पर यह अर्थ स्पष्ट होता है कि मन्त्र अपने द्वारा प्रतिपादित अर्थ के विनियोजक होते हैं, यह सिद्ध हुआ। विनियोजक शब्द का अर्थ होता है शेष, रूप से अन्वय। शेषत्व का अर्थ होता है अंगत्व। 'इमाम गृभ्णन् रशनाम्' यह मन्त्र रशना (डोरी) पकड़ने के सामर्थ्य को प्रकट करता है। रशना ग्रहण के प्रकाशन सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण के द्वारा ही रशना ग्रहण के अङ्गत्व की उपपत्ति हो जाती है तब 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य इत्यश्वमिधानीमादत्ते' इस वाक्य की क्या आवश्यकता है ?

उपर्युक्त शंका का समाधन करते है; 'इत्यश्वभिधानीमादत्ते' निष्प्रयोजन नहीं है। यह वाक्य परिसंख्या विधिरूप माना जाता है। चयन प्रकरण में अश्वरशना और गर्दभ रशना दोनों का ग्रहण प्राप्त होता है। लिङ्ग प्रमाण से अश्वरशना को ग्रहण करने के लिए मन्त्र का उच्चारण किया जाता है; किन्तु लिङ्ग प्रमाण के विशिष्ट न होने के कारण गर्दभ रशना के ग्रहण में

भी मन्त्र की प्राप्ति होगी इस स्थिति में 'इमाम गृभ्णन् रशनामृतस्य इत्यश्वमिधानीभादत्ते' यह मन्त्र वाक्य यह बतलाता है कि अश्वरशना के ग्रहण में ही मन्त्र का विनियोग करना चाहिए, गर्दभ रशना के ग्रहण में नहीं। गर्दभ रशना के ग्रहण न करने का विधान परिसंख्याविधि मन्त्र वाक्य से ही हुआ है। अतः परिसंख्या विधि व्यर्थ नहीं है।

'परिसंख्यायां दोषत्रयम्'

सा च परिसंख्या त्रिदोषा—स्वार्थत्यागः, परार्थस्वीकारः, प्राप्त-बाधश्चेति भेदात्। 'अश्वाभिधानीमादत्ते' इति वाक्यस्य अनेन मन्त्रेणाऽश्वरशनाऽऽदानं कुर्यादिति स्वार्थः, स च त्यक्तः। गर्दभरशनातो मन्त्र-निवृत्तिः परार्थः स च स्वीकृतः। गर्दभरशनाद्यामपि लिङ्गात्प्राप्तस्य मन्त्रस्य अनेन बाधश्च—इति त्रिदोषा परिसंख्या गत्यभावादङ्गीकृता। गत्यन्तरे सति सा न युक्ता।

परिसंख्या के तीन दोष हैं—स्वार्थत्याग, परार्थ स्वीकार और प्राप्त बाध। 'अश्वाभिधानीमादत्ते' इस वाक्य का अर्थ होता है कि उक्त मन्त्र द्वारा अश्वरशना का परिग्रहण करें। परिसंख्या विधि द्वारा यह बोध होता है कि गर्दभ रशना का ग्रहण न करें अपितु अश्वरशना का ही ग्रहण करें। यहाँ मन्त्र में अश्वरशना के ग्रहण का जो उल्लेख है उस पर ध्यान न देकर 'गर्दभ रशना को नहीं पकड़ना है' इस वाक्य को स्वीकार किया गया है। 'अश्वरशना का ग्रहण करें' इस स्वार्थ का परित्याग करना पड़ता है। ऐसा नहीं करेंगे तो परिसंख्या का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। अन्त में अश्व की ही रशना पकड़ते हैं, गर्दभ की रशना नहीं पकड़ते तब लिङ्ग प्रमाण के द्वारा गर्दभरशना ग्रहण के समय उक्त मन्त्र की प्राप्ति होने पर उसको 'अश्वभिधानीमादत्ते' इस वाक्य से बाधित कर दिया जाता है। अतः परिसंख्याविधि में प्राप्तबाध नामक दोष है। इस प्रकार परिसंख्याविधि में तीन दोष होने पर भी अन्य कोई दूसरी गति न होने के कारण अर्थात् दूसरा कोई मन्त्र वाक्य न होने के कारण स्वीकार कर लिया जाता है। किन्तु गत्यन्तर होने पर परिसंख्या विधि को स्वीकार नहीं किया जाता।

विकल्प

एवमष्टदोषदुष्टविकल्पोऽप्यगतिकोऽङ्गीकृतः। यथा—यादाग्नेयोऽष्टाक-

पालः संस्कृतः पुरोडाशो यागाङ्गत्वेनावकृतः। तत्र अपूपविशेषस्य पुरोडाशस्य प्रकृतिद्रव्याकाङ्क्षायामनियमेन यस्यकस्यचिद्द्रव्यस्य प्राप्तौ 'व्रीहिभिर्यजेत' इति वाक्याद्व्रीहयो नियम्यन्ते, एवं 'यवैर्यजेत' इति वाक्याद्यवा अपि नियम्यन्ते; तयोरेकार्थत्वाद्विकल्पः।

परिसंख्या में जिस प्रकार तीन दोष होते हैं, विकल्प से आठ दोष होते हैं किन्तु गत्यन्तर न होने के कारण अर्थात् अन्य कोई मन्त्र वाक्य न होने के कारण इसे स्वीकार कर लिया जाता है। जैसे—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' आदि वाक्य के द्वारा अष्टकपाल द्वारा सुसंस्कृत पुरोडाश द्रव्य को याग क्रिया के अङ्ग के रूप में स्वीकार किया गया है। इस कर्म में यह आकांक्षा उठती है कि अपूप अर्थात् पिष्ट द्रव्य द्वारा निर्मित पुरोडाश पिण्ड विशेष किस द्रव्य से बनेगा ? यदि बिना किसी नियम के यह मान लिया जाय कि जिस किसी भी द्रव्य के द्वारा अपूप का निर्माण कर लेना चाहिए 'व्रीहिभिर्यजेत' इस वाक्य के द्वारा व्रीहि का नियमन होता है तथा 'यवैर्यजेत' इस वाक्य के द्वारा यव का नियमन होता है। दोनों वाक्य एक ही अर्थ की सिद्धि करते हैं अर्थात् दोनों का विधान पुरोडाश के निमित्त ही किया गया है, अतः दोनों के बीच विकल्प स्वीकार करना पड़ता है।

एवं 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यतिरात्रे षोडशिग्रहो विहितः। तथा 'नाऽतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति प्रतिषेधाद्ग्रहणाभावो विहितः। तयोर्ग्रहणाग्रहणयोः परस्परविरुद्धयोरेकस्मिन्प्रयोगेऽनुष्ठातुमशक्यत्वात्क्वचित्प्रयोगे ग्रहणानुष्ठानम्; प्रयोगान्तरे तदभावानुष्ठानमिति तत्रापि विकल्पः।

इस प्रकार 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' अतिरात्र में षोडशी[1] ग्रहण का विधान किया गया है। तथा 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस वाक्य के द्वारा अतिरात्र में षोडशी ग्रहण का निषेध किया गया है। इस प्रकार ग्रहण और निषेध परस्पर दो विरुद्ध वाक्यों का अनुष्ठान करते समय एक ही साथ प्रयोग संभव न होने से किसी प्रयोग में उसका ग्रहण किया जाता है, किसी प्रयोग में उसका ग्रहण नहीं किया जाता है। इस प्रकार यहाँ भी विकल्प मानना पड़ता है इस विकल्प को ऐच्छिक विकल्प कहते हैं।

१—षोडशी पात्र विशेष।

विकल्पे दोषाष्टकम्

स चाष्टदोषदुष्टः। तथा हि—पूर्वं व्रीहिप्रयोगे यवशास्त्रस्य स्वार्थानुष्ठापकत्वलक्षणप्रामाण्यपरित्यागः १। अननुष्ठापकत्वलक्षणाप्रामाण्यस्वीकारः २। ततो द्वितीयप्रयोगे यवानुष्ठाने पूर्वं त्यक्तं यत्प्रामाण्यं तत्स्वीकारः ३। स्वीकृतं यदप्रामाण्यं तत्परित्यागश्चेति ४ यवशास्त्रे चत्वारो दोषाः। एवं पूर्वं यवप्रयोगे व्रीहिशास्त्रस्य स्वार्थानुष्ठापकत्वलक्षणं यत्प्रामाण्यं तत्परित्यागः ५। अननुष्ठापकत्वलक्षणं यवप्रामाण्यं तत्स्वीकारः ६। पुनर्द्वितीयप्रयोगे व्रीह्यनुष्ठाने व्रीहिशास्त्रस्य त्यक्तप्रामाण्यस्वीकारः ७। स्वीकृताप्रामाण्यपरित्यागश्चेति ८ व्रीहिशास्त्रे चत्वारो दोषाः इत्यष्टदोषदुष्टो विकल्पः।

वह विकल्प आठ दोषो से दूषित होता है। जैसे—

१: 'स्वार्थानुष्ठापकत्वलक्षणप्रमाण्यपरित्यागः' अर्थात् जब व्रीहि द्वारा निर्मित पुरोडाश से याग करेगे तब यव द्वारा निर्मित पुरोडाश याग का विधान करने वाले वाक्य का परित्याग करना पड़ेगा अतः, स्वार्थानुष्ठापकत्वलक्षणप्रामाण्य का परित्याग रूप दोष आ जाएगा। स्वार्थ अर्थात् यव के द्वारा अनुष्ठान बताने वाले लक्षण की प्रमाणिकता का परित्याग करना पड़ेगा।

२. **अननुष्ठापकत्वलक्षणाप्रमाण्यस्वीकारः**—यव शास्त्र जिसका अनुष्ठान नहीं कर रहे हैं उसकी अप्रमाणिकता को स्वीकार करना पड़ेगा यह दूसरा दोष होगा।

३. और पुनः जब यव द्वारा निर्मित पुरोडाश से याग करेंगे तब एक बार व्रीहि का प्रयोग करते समय जिस यव शास्त्र का परित्याग किया था उसी को स्वीकार करना पड़ेगा अतः यह तीसरा दोष होगा।

४. एक बार जिस यवशास्त्र को अमाणिक माना था दुबारा उसकी अप्रमाणिकता का परित्याग कर उसको प्रमाणिक मानते हुए उसका प्रयोग करते हैं अतः, यह चौथा दोष हुआ।

५. 'यवैर्यजेत' इस वाक्य के द्वारा व्रीहि के स्थान पर यव का प्रयोग करेंगे तब व्रीहि शास्त्र में 'स्वार्थानुष्ठापकत्वलक्षणप्रामाण्यपरित्याग' रूप दोष आ जाएगा। अर्थात् व्रीहि के अनुष्ठान को प्रामाणिक बताने वाले शास्त्र का परित्याग करना पड़ेगा।

६. 'अननुष्ठापकत्वलक्षण की अप्रमाणिकता' स्वीकार करना यह छठवाँ दोष होगा अर्थात् व्रीहि शास्त्र जिसका अनुष्ठान नहीं कर रहे हैं उसकी अप्रमाणिकता स्वीकार करनी पड़ेगी।

७. पुनः जब व्रीहि द्वारा अनुष्ठान करेंगे उस समय व्रीहि शास्त्र जिसका हमने यवशास्त्र का अनुष्ठान करते समय परित्याग किया था उसको स्वीकार करना पड़ेगा।

८. आठवाँ दोष यह होगा कि व्रीहि शास्त्र जिसको अप्रमाणिक माना था उसकी अप्रमाणिकता को अस्वीकार कर उसको प्रामाणिक मानना पड़ेगा। वार्तिककार ने आठ दोषों के विषय में लिखा है।

एतमिष्टोऽष्टदोषोऽपि यद् व्रीहियववाक्योः।
विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते॥
प्रमाणत्वाप्रमाणत्व परित्यागप्रकल्पना।
तदुज्जीवनहानाभ्यां विकल्पेऽष्टदोषता॥ इति॥

एकार्थत्वाद्विकल्पः

स च विकल्पः क्वचिदेकार्थत्वात्; एककार्यकारित्वादित्यर्थः। यथा व्रीहियवयोरेकैकस्य पुरोडाशनिष्पादनक्षमतत्वाद्विकल्पः।

विकल्प तीन प्रकार का होता है एकार्थ होने से विकल्प, वचन बल से विकल्प तथा व्यवस्थित विकल्प।

एकार्थता के कारण विकल्प का अर्थ होता है 'एककार्यकारित्व' अर्थात् एक ही कार्य का सम्पादद करना। जैसे—उपर्युक्त उदाहरण में पुरोडाश निर्माण के लिए दो विकल्प है या तो व्रीहि से पुरोडाश निर्माण का कार्य किया जाय या यव से। यव और व्रीहि दोनों एक ही पुरोडाश के निर्माण का कार्यकारित्वरूप हैं। यह विकल्प अष्ट दोष से दुष्ट है।

वचनबलाद्विकल्पः

क्वचिद्वचनबलात्; यथा—'बृहत् पृष्ठं भवति' इति बृहत् सामसाध्यं पृष्ठनामकं स्तोत्रं विहितम्, 'रथन्तरं पृष्ठं भवति' इति रथन्तरसामसाध्यं पृष्ठस्तोत्रान्तरं विधीयते।

कहीं-कहीं वचन बल से भी विकल्प माना जाता है। जैसे—'बृहत् पृष्ठं भवति' इस वाक्य के द्वारा बृहत् साम (गान) के द्वारा पृष्ठ नामक स्तोत्र का विधान किया गया है तथा 'रथन्तरं पृष्ठं भवति' इस वाक्य के द्वारा, रथन्तर साम (गान) के द्वारा पृष्ठ नामक दूसरे स्तोत्र का विधान

किया गया है। इस प्रकार 'वृहत् पृष्ठं भवति' और रथन्तरं पृष्ठं भवति' इन दो वचन के बल से पृष्ठ नामक दो स्तोत्र का विकल्प बताया गया है।

स्तोत्रं च प्रयाजादिवदपूर्वार्थत्वादर्थकर्म। साम तु संस्कारकर्मत्वाद्गुणकर्म। स्तोत्रसाधनीभूतस्तोत्रीयाक्षराभिव्यक्तिरूपसंस्कारद्वारा साम्नां स्तोत्रसाधनत्वाङ्गीकारात्। प्रगीतमन्त्रसाध्यमिन्द्रादिगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम्; प्रगीतमन्त्रसाध्यं सामाभिव्यक्तऋगक्षरसाध्यमित्यर्थः। अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम्। गानक्रियाविशेषः साम। स्तोत्रसाधनीभूता ऋचः स्तोत्रीयाः। तदेतत्त्रिवृत्पञ्चदशत्वादिसंख्याविशेषः स्तोम इत्येतेषां भेदः।

स्तोत्र और शस्त्र का स्वरूप

प्रयाजादि की तरह अपूर्व को उत्पन्न करने के कारण स्तोत्र अर्थकर्म है। साम, संस्कार कर्म होने के कारण गुणकर्म है। साम स्तोत्र का साधनभूत है। साम ही स्तोत्रीय अक्षरों की अभिव्यक्ति सम्यक् रूप से करता है। स्तोत्र का संस्कारक होने के कारण साम स्तोत्र का साधन बनता है और गुण कर्म कहलाता है। प्रगीत [गेय] मन्त्रों के द्वारा जो इन्द्रादि देवता के गुण का गान किया जाता हैं उसे स्तोत्र कहते हैं; तथा अप्रगीत बिना गाये हुए ही मन्त्रों के द्वारा जो गुणिनिष्ठगुणाभिधान किया जाता है अर्थात् देवता का गुणगान किया जाता है उसे शस्त्र कहते हैं। गायन की विशेष क्रिया को साम कहते हैं। स्तोत्र की साधनभूत ऋचायें स्तोत्रीय कहलाती हैं। यदि स्तोत्रीय ऋचाओं को तीन बार दुहराया जाता है तब वह त्रिवृत् स्तोम कहलाती है। तथा पन्द्रह बार दोहराया जाता है तब वह पञ्चदश स्तोम कहलाती है।

तथा च बृहद्रथन्तरपृष्ठयोर्भिन्नापूर्वार्थत्वेन एकार्थत्वाभावेऽपि 'बृहद्वा पृष्ठं कार्यं, रथन्तरं वा पृष्ठं कार्यम्' इति वचनबलादेव विकल्पः।

इस प्रकार 'बृहत्पृष्ठस्तोत्र' और रथन्तरपृष्ठस्तोत्र' ये दोनों भिन्न-भिन्न अपूर्वो की उत्पत्ति करते हैं, अतः इन्हें एकार्थक नहीं कह सकते। 'बृहद्वा पृष्ठं कार्यम्' 'रथन्तरं वा पृष्ठं कार्यम् यह' दोनों विकल्प वचन बल से होता है।

व्यवस्थितविकल्पः

क्वचिद्व्यवस्थितविकल्पः। द्वितीयप्रयाजादिकर्मणि नाराशंस-

तनूनपान्मन्त्रयोरेकार्थत्वाद्विकल्पः। स च 'राजन्यवसिष्ठादीनां नाराशंसो द्वितीयः प्रयाजस्तनूनपादन्येषाम्' इति वाक्याद्व्यवस्थित इति व्यवस्थितविकल्पः।

कहीं-कहीं व्यवस्थित विकल्प भी होता है—नराशंस और तनूनपात ये दोनों मन्त्र 'द्वितीय प्रयाजादि एक ही कर्म के लिए प्रयुक्त होते हैं। एकार्थक होने के कारण दोनों मन्त्रों में विकल्प मान लिया जाता है। वशिष्ठगोत्र के लोग तथा राजन्य लोग द्वितीय प्रयाजादि कर्म की निष्पत्ति नराशंस मन्त्रों से करें तथा अन्य लोग द्वितीय प्रयाजादि कर्म की निष्पत्ति तनूनपात मन्त्र से करें। इस प्रकार दोनों मन्त्रों की व्यवस्था इस वाक्य के द्वारा कर दी गई है कि 'राजन्यवशिष्ठादीनां नराशंसो द्वितीयः प्रयाजस्तनूनपादन्येषाम्' अतः यह व्यवस्थित विकल्प का उदाहरण है।

कृत्स्नवेदस्य धर्माधर्माख्यार्थे प्रामाण्यम्

तदेवं चोदनाऽपरपर्यायाणां विधिवाक्यानामंशत्रयविशिष्टभावनाविधायकत्वात्प्रामाण्यम्, उद्भिदादीनां नामतया, अर्थवादानां विधेयप्राशस्त्यपरतया, मन्त्राणामनुष्ठेयार्थस्मारकतया प्रामाण्यमिति कृत्स्नस्य वेदस्यालौकिके धर्माधर्माख्येऽर्थे प्रामाण्यं स्थितम्॥ इति वेदप्रामाण्यविचारः।

सम्पूर्ण वेद का धर्म और अधर्म में प्रमाण

विधि, नामधेय, अर्थवाद और मन्त्र, वेद के ये सम्पूर्ण अङ्ग ही धर्म और अधर्म की प्रमाणिकता को स्थापित करते हैं।

विधि वाक्य का दूसरा पर्याय है चोदना। विधि वाक्य अंशत्रय विशिष्ट भावनाा के विधायक होते हैं, अतः इनको प्रामाणिक माना जाता है उद्भिदादि वाक्य नामधेय होने के कारण प्रामाणिक हैं। अर्थवाद वाक्य विधेय वाक्य की प्रशंसा करने के कारण प्रामाणिक हैं। मन्त्र वाक्य अनुष्ठान का स्मरण कराने के कारण प्रामाणिक है। इस प्रकार सम्पूर्ण वेद आलौकिक धर्म और अधर्म के विषय में प्रमाण है।

स्मृत्यादिप्रामाण्यविचारः

मन्वादिप्रणीतानां स्मृतीनामपि वेदमूलकत्वात्त्स्यादष्टकादौ धर्मे प्रामाण्यम्। 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' इति स्मृतिरप्रमाणम्, 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' इति प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धत्वात्। सर्ववेष्टने सति श्रुत्युक्तस्पर्श-

नस्य कर्तुमशक्यत्वात्। 'वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति' इत्यादि-स्मृतिरप्रमाणम्, श्रुत्यर्थाविरुद्धत्वेऽपि लोभमूलकत्वात्।

स्मृति आदि का प्रामाण्य, वेद मूलक होने कारण है। वे स्वयं में प्रमाण नहीं हैं मनु आदि द्वारा रची गई स्मृतियाँ कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में वेद के अर्थ को ही प्रतिपादित करती हैं इसलिए इनको प्रमाण माना जाता है। अष्टकादि स्मृति वाक्य धार्मिक कृत्यों में प्रामाणिक माने जाते हैं क्योंकि ये वेद मूलक हैं अर्थात् श्राद्ध कर्म करते समय 'अष्टकाः कर्त्तव्याः' इस स्मृति वाक्य को प्रमाण मानते हैं, जिसका अर्थ होता है—फाल्गुन कृष्ण अष्टमी तथा माघ-कृष्ण-अष्टमी में किए जाने वाले श्राद्ध को अष्टकाः कहते हैं। इस श्राद्ध के अनुष्ठान में पूर्वोक्त स्मृति वाक्य प्रमाण है क्योंकि वह वेद मूलक है। किन्तु 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या (गूलर की सम्पूर्ण शाखा को वस्त्र से वेष्टित करना चाहिए) यह स्मृति वाक्य प्रामाणिक नहीं माना जाता क्योंकि यह श्रुति मूलक न होकर श्रुति विरुद्ध है। 'औदुम्बरी स्पृष्ट्वोद्गायेद्' (गूलर को स्पर्श करके उद्गाता नामक ऋत्विक् को सामगान करना चाहिए) इस प्रत्यक्ष पठित श्रुति के द्वारा गूलर की शाखा को केवल स्पर्श करने का विधान बताया गया है। पूर्वोक्त स्मृति वाक्य का श्रुति वाक्य से विरोध है। श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर श्रुति ही प्रामाणिक होती है क्योंकि श्रुति स्वतः प्रमाण है और स्मृति वेदमूलक होने के कारण प्रमाण है। स्मृति वाक्य में गूलर की सम्पूर्ण शाखा को कपड़े से लपेटने के लिए कहा गया है और श्रुति वाक्य में गूलर की शाखा को स्पर्श करने के लिए कहा गया है। सर्ववेष्टन हो जाने पर शाखा के चारो तरफ से कपड़े से लिपटकर ढक जाने से उसका स्पर्श सम्भव नहीं हो सकेगा, श्रुति से स्मृति का बाध करके स्पर्श ही किया जाता है, वेष्टन नहीं।

इसी प्रकार 'वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति' इत्यादि स्मृति भी अप्रमाणिक है। सोम याग में अवान्तर दीक्षा के छोड़ने के प्रसंग में एक होम किया जाता है उस समय यजमान को, उसकी पत्नी को, पुत्रों को भाइयों को एक लम्बे सम्पूर्ण कपड़े से ढकते हैं, कपड़ा समाप्त हो जाने पर स्रुवा का दण्ड जोड़कर उससे होम किया जाता हैं। उस वस्त्र को वैसर्जन-होमीय वस्त्र कहते हैं। यहाँ स्मृति की अप्रमाणिकता प्रत्यक्ष श्रुति के विरूद्ध होने के कारण नहीं है अपितु लोभमूलक होने के कारण अप्रमाणिक है।

दक्षिणा से खरीदे हुए वस्त्र को ऋत्विजों को लेना उचित नहीं है फिर भी लोभवश वह उसे ग्रहण कर लेता है। अतः, लोभमूलक होने के कारण यह स्मृति प्रामाणिक नहीं है।

तथा शिष्टाचारोऽपि स्मृतिद्वारा श्रुतिमूलकत्वात्प्रमाणम्। मातुलसुतापरिणयनादिशिष्टाचारस्त्वप्रमाणम्। 'मातुलस्य सुतामूढ्वा मातृगोत्रां तथैव च। समानप्रवरां तद्वत्त्यक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्' इत्यादिस्मृत्या निषिद्धत्वेन स्मृतिविरुद्धत्वात् तदेवं श्रुतिस्मृत्याचाराणां धर्माधर्मयोः प्रामाण्यमुक्तम्।

इसी प्रकार शिष्टाचार भी स्मृति के द्वारा परम्परया वेदमूलक होने के कारण प्रामाणिक हैं जैसे—मामा की लड़की से अर्थात् ममेरी बहन से शादी करने का जो शिष्टाचार है उसे हम प्रामाणिक नहीं मान सकते। क्योंकि इस शिष्टाचार का स्मृति से विरोध है स्मृति में लिखा है 'मातुलस्य सुतामूढ्वा मातृगोत्रां तथैव च। समान-प्रवरां तद्वत्त्यक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्, मामा की लड़की से या उस गोत्र में उत्पन्न किसी भी कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए क्योंकि दोनों का अर्थात् ममेरी बहन और फुफेरे भाई का समान गोत्र होता है। यदि भूल से कोई ऐसी शादी कर भी लेता है तो उसे प्रायश्चित के रूप में चान्द्रायण व्रत करना पड़ता है।

इस प्रकार श्रुति, स्मृति और आचार इन तीनों का धर्म तथा अधर्म के विषय में प्रामाण्य और अप्रामाण्य बतला दिया गया।

धर्मस्य परस्परं भेदकानि प्रमाणानि

स च धर्मः परस्परं भिन्नः। भेदकप्रमाणानि तु शब्दान्तरादीनि।

यागादि धर्म परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं उसकी भिन्नता को सिद्ध करने के लिए ६ प्रमाण होते हैं—

शब्दान्तर, अभ्यास, सङ्ख्या, संज्ञा, गुण और प्रकरणान्तर।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि मीमांसको के यहाँ धर्म क्रिया स्वरूप है। कर्म ही धर्म है। प्रवृत्ति रूप कर्म और निवृत्ति रूप कर्म, ये ही धर्म और अधर्म हैं।

अथ कर्मभेदनिरूणम्

शब्दान्तरम्

तथा हि—याग-दान-होमानां यजति-ददाति-जुहोतीत्यपरपर्याय शब्द-प्रतिपाद्यत्वाच्छब्दान्तराद्भेदः। स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वापादनं दानम्।

'यजति-ददाति और जुहोति' ये तीनों पद पर्यायवाची नहीं हैं परस्पर भिन्न-भिन्न हैं और इनके शब्दों द्वारा प्रतिपादित याग और होम की प्रक्रिया भी परस्पर भिन्न-भिन्न है क्योंकि उनके प्रतिपादक शब्द भिन-भिन्न है। दान, याग और होम इन तीनों की परिभाषा तथा प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। दान कहते है 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वापादनं दानम्' स्वस्वत्व अर्थात् अपने अधिकार की निवृत्ति कराकर दूसरे का स्वत्व स्थापित करना। इसका उदाहरण हैं 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति! याग की परिभाषा है 'देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः 'याग'—पदार्थः।' इसका उदाहरण है—'सोमेन यजेत'। होम की परिभाषा है—प्रक्षेपविशिष्टयागः 'होम' इति उच्यते' इसका उदाहरण है—'दक्षिणानि जुहोति' चतुरव-त्तञ्जुहोति'

इस प्रकार शब्दान्तर की भिन्नता से कर्म भिन्न-भिन्न हो गया। याग कर्म, दान कर्म और होमकर्म।

अभ्यासः

'समिधो यजति' इत्यादीनां पञ्चानां वाक्यानां मध्ये एकस्य कर्म-

विधायकत्वम्, अन्येषां तस्मिन्कर्मणि गुणविधायकत्वम्, इत्यत्र नियमाका-भावात्सर्वेषां कर्मविधायकत्वे स्थिते विहितस्य कर्मणः पुनर्विधानं व्यर्थमिति पुनर्विधानसामर्थ्यात् पूर्ववाक्यविहितकर्मापेक्षयोत्तरोत्तरवाक्यविहितस्य कर्मणो भेदः सिद्धयतीत्येतादृशस्थलेष्वविशेषपुनः श्रुतिरूपात् 'यजति' पदाभ्यासात् कर्मभेदः ।

अभ्यास प्रमाण द्वारा कर्मभेद

'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति' 'इडो यजति' बर्हिर्यजति' 'स्वाहा-कारं यजति' इन पाँच वाक्यों में से एक वाक्य कर्म का विधायक है तथा शेष ४ वाक्य गुण के विधायक हैं; इसका कोई नियामक नहीं, किन्तु सभी पाँचो वाक्यों को कर्म का विधायक मान लेने पर विहित कर्म का पुनः पुनः करना व्यर्थ हो जायगा । चूंकि बार-बार कर्म का विधान किया गया है अतः पुनर्विधान के सामर्थ्य से पूर्व-पूर्व वाक्य द्वारा विहित कर्म उत्तर-उत्तर वाक्य द्वारा विहित कर्मो से भिन्न सिद्ध होते हैं । इस प्रकार ऐसे स्थलों पर सामान्य रूप से बार-बार श्रुतिरूप 'यजति' पद के अभ्यास से कर्मभेद हो जाता है । अर्थात् पाँच वाक्यों में 'यजति पद' पाँच बार आया है अतः, इस अभ्यास से यह ज्ञात होता है कि कर्म भी पाँच है ।

संज्ञा संख्या

'तिस्र आहुतीर्जुहोति' इत्यत्र जुहोतिपदाभ्यासाभावेऽपि जुहोतीत्यर्थे होमे त्रित्वसंख्यान्वयात्परस्परं भिन्नास्त्रयो होमा इति संख्ययाऽत्र कर्मभेदः ।

'तिस्र आहुतीर्जुहोति' तीन बार आहुति का होम करता है यहाँ 'जुहोति' पद का तीन बार अभ्यास नहीं किया गया हैं किन्तु होमार्थक 'जुहोति' पद के साथ त्रित्व संख्या का अन्वय किया गया है अतः त्रित्व संख्या के बल पर तीन भिन्न-भिन्न होमों का विधान किया गया है ।

संज्ञा

'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत' इति ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रुतानामपि ज्योतिराख्यानां त्रयाणां यागानां ज्योतिष्टोमसंज्ञापेक्षया पृथक्संज्ञाकरणाज्ज्योतिष्टोमापेक्षया भेदः । भिन्नसंज्ञा-वशादेव त्रयाणां परस्परं भेद इति संज्ञया कर्मभेदः ।

संज्ञा से कर्मभेद

भिन्न-भिन्न यागों का भिन्न-भिन्न नाम होने से उनके भिन्न-भिन्न कर्म का बोध होता है । 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन

सहस्रदक्षिणेन यजेत' यह वाक्य ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित है। इसमें ज्योतिष्टोम संज्ञा की अपेक्षा 'अथैष ज्योतिः' 'अथैष विश्वज्योतिः' 'अथैष सर्वज्योतिः' तीन वाक्य सुने जाते हैं। ज्योतिष्टोम के अतिरिक्त तीन यागों की तीन पृथक्-पृथक् संज्ञा होने के कारण इन तीनों यागों का भिन्न-भिन्न कर्म होता हैं। इस प्रकार संज्ञा के द्वारा कर्म भेद का यह उदाहरण हुआ।

गुणः

तथा 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्यत्र 'सा वैश्वदेवी' इतिवाक्ये विश्वदेवदेवताऽऽमिक्षाद्रव्य-संबन्धानुमितो यागो विधीयते। 'वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्यत्रापि वाजिदैवत्यं वाजिनद्रव्यकं कर्मान्तरं विधीयते। न तु पूर्वविहिते वैश्वदेवयागे वाजिन-द्रव्यरूपो गुणो विधीयते। पूर्वयागस्यामिक्षागुणावरुद्धत्वेन तत्र वाजिनस्य निवेशायोगात्। नच व्रीहियववद्विकल्पः। वाजिनामिक्षयोः समशिष्टत्वा-भावात् विषमशिष्टयोर्विकल्पायोगात्। वैश्वदेवयागोत्पत्तिवाक्ये एवामिक्षा-गुणः शिष्यत इत्युत्पत्तिशिष्टः; शिष्यते विधीयते इत्यर्थः। वैश्वदेववाक्या-दुत्पन्ने कर्मणि वाक्यान्तरेण शिष्टो वाजिनगुण उत्पन्नशिष्टः, तयोर्मध्ये ह्युत्पत्तिशिष्टः प्रबलः, कर्मोत्पत्तिवेलायामेव कर्माङ्गत्वेन प्रमितत्वात्। उत्पन्नशिष्टो वाजिनगुणोऽनन्तरं प्रमितोऽपि विलम्बितत्वेन दुर्बलत्वात्पूर्व-कर्मणि निवेशमलभमानो वाजिरूपदेवतान्तरसंबन्धात् स्ववाक्यस्य कर्मान्तरविधायकत्वमानयतीति गुणाद्भेदः। तत्र घनीभूतं पय आमिक्षा, शिष्टं जलं वाजिनम्।

गुण के कारण भी कर्मभेद होता है। जैसे 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इस वाक्य में दो वाक्य हैं पहला 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्याभिक्षा' और दूसरा 'वाजिभ्यो वाजिनम्' जिसमें पूर्ववाक्य 'सा वैश्वदेवी' के द्वारा वैश्वदेव देवता और आमिक्षा द्रव्य के संबंध से याग का अनुमान कर उसका विधान करते हैं अर्थात् गर्म दूध में दधि डालकर जो उसका छेना बनता है जिसे आमिक्षा द्रव्य कहते हैं वह विश्वेदेव, देवता के लिए आहुति दी जाती है। दूसरा वाक्य 'वाजिभ्यो वाजिनम्' यह बतलाता है कि वाजिन द्रव्य अर्थात् उस छेने के पानी को वाजि देवता के लिए अहुति दी जाती है। इस प्रकार दो भिन्न-भिन्न कर्म का विधान बताया गया है। यह कर्म की भिन्नता वाजिन और आमिक्षा इन दोनों पदार्थो के गुणभेद के कारण है। पूर्व

विहित वैश्वदेव याग में वाजिन रूप गुण का पूर्ववाक्य में विहित अमिक्षा रूप गुण से अवरोध हो जाता है वहाँ वाजिन का समावेश नहीं हो सकता। यदि यह शंका करते हैं कि 'वीहिभिर्यजेत' 'यवैर्यजेत' इन दो वाक्यों से व्रीहि और यव दोनों का विकल्प स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार उपरोक्त दोनों वाक्यों से आमिक्षा और वाजिन का विकल्प क्यों नहीं स्वीकार कर लेते हैं, तो उत्तर यह है कि वाजिन और आमिक्षा समशिष्ट नहीं है, विषम शिष्ट है अर्थात् एक वाक्य से विहित न होकर भिन्न-भिन्न वाक्यों से विहित हैं तथा विषमशिष्ट में विकल्प स्वीकार नहीं किया जाता अर्थात् आभिक्षा उत्पत्ति शिष्ट हैं और वाजिन उत्पन्न शिष्ट है। वैश्व याग के उत्पत्ति वाक्य में ही आमिक्षा रूप गुण का विधान किया गया है अत:, वह उत्पत्तिशिष्ट है। जिसका विधान किया जाता है वही शिष्ट कहलाता है वैश्वदेव वाक्य के द्वारा वैश्वदेव याग का विधान हो जाने पर वाक्यान्तर से वाजिन गुण का विधान किया जाता है अतः वह उत्पन्न शिष्ट है। उत्पत्तिशिष्ट और उत्पन्नशिष्ट के बीच उत्पत्तिशिष्ट प्रबल है अत:, कर्म का विधान करते समय उसकी प्राप्ति, कर्म के अंग के रूप में होती है। इसके विपरीत उत्पन्नशिष्ट वाजिन रूप गुण बाद में बिलम्ब से उपस्थित होने के कारण प्रमित (उल्लिखित) होने पर भी दुर्बल हो जाता है अतः पूर्वकर्म में उसका प्रवेश न होने पर भी वाजिरूप अन्य देवता के संबंध से उसके प्रतिपादक वाक्य को दूसरे कर्म का विधायक माना जाता है। इस प्रकार गुण के द्वारा भेद यहाँ प्रतिपादित होता है।

व्याख्या—दध्यानयन विधि आमिक्षा के लिए की जाती हैं। पूर्व वाक्य में कर्म और देवता तथा आमिक्षा द्रव्य रूप गुण तीनों का विधान किया गया है अतः आमिक्षा रूप गुण उत्पत्ति शिष्ट है। मुख्य रूप से उसका विधान किया गया है। जबकि दूसरे वाक्य में देवता और बाजि रूप गुण का विधान किया गया है, कर्म का विधान पूर्व वाक्य से मान लेते हैं, अतः यह उत्पन्न शिष्ट है। अर्थात् आमिक्षा के लिए दध्यानयन किया जाता है, न कि वाजिन के लिए, वाजिन तो स्वतः सिद्ध हो जाता है, अतः आमिक्षा उत्पत्ति शिष्ट हुआ और वाजिन उत्पन्न शिष्ट हुआ।

प्रकरणान्तरम्

तथा कुण्डपायिनामयने श्रूयते—'उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति' इति। अत्र पूर्वं कर्म किंचिदपि संनिहितं न भवति अपूर्वकर्मसंनि-

धानरूपात्प्रकरणान्तरात्प्रसिद्धाग्निहोत्रधर्मकं तन्नामकं कर्मान्तरं विधीयते। नत्वग्निहोत्रशब्देन प्रसिद्धाग्निहोत्रमनूद्य गुणविधिः। प्राप्ते कर्मणि आनन्तर्य—मासरूपानेकगुणविधौ वाक्यभेदापत्तेरिति प्रकरणान्तरादत्र कर्मभेदः। प्रसिद्धाग्निहोत्रं नैयमिकाग्निहोत्रं नित्याग्निहोत्रमिति यावत्। तदेवं शब्दान्तरा-भ्यास-संख्या-संज्ञा-गुण-प्रकरणान्तरैः कर्मभेदोदर्शितः। इति कर्मभेदनिरूपणम्।

कुण्डपायी ऋत्विजों के अयन में (सूत्र में) ऐसा सुना जाता है। 'उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति' इति अर्थात् उपसद् नामक इष्टि कर्म करके एक मास तक अग्निहोत्र कर्म करें। इस वाक्य के पास इसके पूर्व अन्य किसी कर्म का विधान नहीं किया गया है, अतः अपूर्वकर्मसन्निधानरूप होने के कारण तथा प्रकरणान्तर अर्थात् दूसरा प्रकरण होने के कारण प्रसिद्ध जो अग्निहोत्र कर्म है जिसका बोध हमें 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से होता है। उससे इस अग्निहोत्र नामक कर्म को भिन्न माना जाता है। चूँकि यह कुण्डपायी ऋत्विजों के सत्र में विहित अग्निहोत्र अन्य प्रकरण में कहा गया है, अतः प्रसिद्ध अग्निहोत्र से उसको भिन्न माना जाता है।

यदि यहाँ कोई यह शङ्का करे कि पहले से प्रसिद्ध अग्निहोत्र शब्द का उक्त वाक्य में अग्निहोत्र का अनुवाद करके मास गुण का विधान किया गया है तो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा मानने पर वाक्य भेद दोष हो जाएगा।

'अग्निहोत्रं' जुहोति' से प्राप्त अग्निहोत्र कर्म में आनन्तर्य और मासरूप उपसद् उत्तरकालिकत्व अनेक गुण का विधान होने से वाक्य भेद हो जाएगा।

अतः इस स्थल में प्रकरणान्तर के द्वारा कर्म भेद का विधान किया गया है। इस प्रकार शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण तथा प्रकरणान्तर के द्वारा कर्मभेद का निरूपण किया गया!

अथ प्रमेयविचारः

तत्र वेदादिप्रमेयोऽर्थस्त्रिविधः—क्रत्वर्थः; पुरुषार्थः, उभयार्थश्चेति। तत्र प्रयाजादिकं केवलं क्रत्वर्थः, फलं तत्करणं च पुरुषार्थः—यथा ज्योतिष्टोमादिः, स्वर्गश्च॥ दध्यादि तूभयरूपं—'दध्ना जुहुयात्' इत्यनेन फलाय विधानात्पुरुषार्थत्वात्। तदुक्तं—'एकस्य तूभयरूपत्वे संयोगपृथक्त्वम्'

इति। संयोगो वाक्यं तस्य पृथकत्वं भेदः। स चैकस्य उभयार्थत्वे नियामक इत्यर्थः।

वेदादि प्रमाणों पर विचार करने के पश्चात् प्रमेय पर विचार किया जा रहा है। प्रमाण साधन का साध्य क्या है इस पर विचार किया गया हैं प्रमाण के द्वारा ही प्रमेय सिद्ध होता है।

वेदादि (स्मृति और शिष्टाचार) के द्वारा प्रतिपादित अर्थ प्रमेय तीन हैं—क्रत्वर्थ, पुरुषार्थ और उपयार्थ अर्थात् क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ दोनों। क्रत्वर्थ—प्रयाजादि कर्म केवल क्रत्वर्थ हैं। प्रयाजादि क्रतु अर्थात् याग के उपकरण हैं इनका कोई स्वतन्त्र फल नहीं होता।

पुरूषार्थ—फल तथा फल का साधन पुरूषार्थ कहलता है। जैसे—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' यहाँ ज्योतिष्टोम साधन और स्वर्गादि फल दोनों ही पुरुषार्थ हैं। पुरुष का अर्थ अर्थात् पुरुष के द्वारा इच्छित स्वर्गरूप फल तो पुरुषार्थ है ही, साथ में उस फल की प्राप्ति के साधन भूत ज्यति-ष्टोम को भी पुरुष चाहता है इसलिए वह पुरुषार्थ है।

उभयार्थ—जो प्रमेय क्रत्वर्थ भी हो और पुरुषार्थ भी हो उसे उभयार्थ कहा जाता है। दध्यादिरूप गुण उभयार्थ है। 'दध्ना जुहुयात्' इस वाक्य के द्वारा केवल दधिरूप गुण का ही विधान किया गया है फल का नहीं अतः यहाँ दधि क्रत्वर्थ हुआ। किन्तु 'दध्नेन्द्रिय कामस्य जुहुयात्' इस वाक्य में फल का भी कथन किया गया है, अतः इस दृष्टि से दधि फल का साधन होने के कारण पुरुषार्थ है। मीमांसा सूत्र में भी कहा गया है, एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथकत्वम्।

एक ही द्रव्यादि की उभयरूपता का नियामक वाक्यभेद है। दध्यादि संयोग वाक्य भी है और पृथकत्वभेद वाक्य भी है अर्थात् 'दध्नाजुहुयात्' इस वाक्य से दध्यादि क्रत्वर्थ बोधक है तथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इस वाक्य से यह पुरुषार्थ बोधक भी है; इस प्रकार दोनों भिन्न-भिन्न वाक्य उभयार्थ के नियामक हो जाते हैं।

प्रयोजकत्वविचारः

क्रत्वर्थं प्रयाजादौ क्रतुः प्रयोजकः। पुरुषार्थे फलं प्रयोजकम्। प्रयोज-कत्वं नामानुष्ठापकत्वमित्यर्थः।

विधिर्यदर्थं यदनुष्ठापयति स तत्र प्रयोजकः। दर्शादिविधिः स्वर्गार्थं दर्शादिकमनुष्ठापयतीति स्वर्गादिर्दर्शादौ प्रयोजकः। प्रयाजादिविधिः प्रया-

जान्दर्शाद्यर्थम् अनुष्ठापयतीति दर्शादिः प्रयाजानां प्रयोजकः। दध्यानयन-विधिः दध्यानयनमामिक्षार्थमनुष्ठापयति, न वाजिनार्थम्। आमिक्षार्थं दध्यानयनानुष्ठाने सति वाजिनस्य स्वतः सिद्धत्वात्। अत आमिक्षैव दध्यानयने प्रयोजिका, न वाजिनम्।' 'पुरोडाशकपालेन तुषानुपवति' इति तुषोपवापाङ्गत्वेन पुरोडाशकपालं विधीयते, तथापि तुषोपवापः कपालस्य प्रयोजको न भवति, पुरोडाशार्थमुपात्तेनैव कपालेन तुषोपवापसिद्धेः। किंतु पुरोडाश एव कपालस्य प्रयोजक इत्याद्यूह्यम्। इति प्रमेयादिनिरूपणम्।

प्रयाजादि क्रत्वर्थ में क्रतु ही प्रयोजक है। पुरुषार्थ में फल प्रयोजक होता है। प्रयोजक शब्द का यहाँ अर्थ है—अनुष्ठापक।

विधि आदि वाक्य जिस अर्थ के लिए या जिस फल के लिए या जिस प्रयोजन से फल का अनुष्ठान करवाता है वही उसका प्रयोजक होता है। जैसे—स्वर्गादि फल दर्शादि याग का प्रयोजक बनता है और दर्शपूर्णमास याग प्रयाजादि का प्रयोजक बनता है। क्योंकि प्रयाजादि विधि दर्श के लिए प्रयाज का अनुष्ठान कराती है, अतः दर्शादि यहाँ पर प्रयोजक है। 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा स वाजिभ्यो वाजिनम्' इसमें दध्यानयन विधि आमिक्षा रूप द्रव्य के लिए है, वाजिन के लिए नहीं है। आमिक्षा के अनुष्ठान से वाजिन स्वतः सिद्ध हो जाता है आमीक्षा ही दध्यानयन की प्रयोजिका है वाजिन यहाँ प्रयोजक नहीं बनता। गर्म दूध से दही डालकर उसे फाड़कर छेना बनाते हैं तो छेने का पानी स्वयं बन जाता है।

'पुराडाश कपालेन तुषानुपवपति' यहाँ तुषोपवापाङ्गत्वेन पुरोडाश कपाल का विधान किया गया है अर्थात् भूसी निकालने के लिए पुरोडाश कपाल का विधान किया गया है फिर भी तुषोपवाप (भूसी निकालना) कपाल का प्रयोजक नहीं है, अपितु पुरोडाश ही कपाल का प्रयोजक है क्योंकि कपाल पुरोडाश के लिए लिया गया है न कि तुषोपवाप के लिए, तुषोपवाप तो स्वतः सिद्ध हो जाता है। पुरोडाश तैयार करने के लिए जब कपाल ग्रहण करते हैं तो तषोपवाप की क्रिया (भूसी निकालने) को स्वतः सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार पुरोडाश ही कपाल का प्रयोजक है, तुषोपवाप नहीं।

अथ क्रमनिरूपणम्

ननु विधिना साङ्गं प्रधानं कर्तव्यतया चोद्यते। तत्राङ्गानां प्रधानानां

च कर्मणां बहुत्वात्क्रमेणानुष्ठानं वाच्यम् । तत्क्रमनियामकं प्रमाणं किमिति चेत्—न, श्रुत्यादीनामेव क्रमनियामकत्वात् ।

विधि वाक्यों के द्वारा प्रधान कर्म और अङ्ग कर्म अनेक कर्मो का कर्त्तव्यरूप से विधान किया गया है। अब प्रश्न उठता है कि इन कर्मो का विधान किस क्रम से किया जाय। इसका नियामक प्रमाण क्या है? तो इसका उत्तर देते हैं कि—श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवृत्ति ये ६ प्रमाण प्रधान कर्म और अङ्ग कर्म के क्रम का निर्धारण करते हैं।

श्रुतिक्रमः

तथा हि—'अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति' इत्यत्र क्त्वाश्रुत्या गृहपतिदीक्षानन्तरं ब्रह्मदीक्षेति श्रौतक्रमः ।

'अध्वर्यु गृहपतिं दीक्षयित्वा, ब्रह्माणं दीक्षयति' यहाँ क्त्वा प्रत्यय रूप श्रुति प्रमाण से ही यह निर्णय हो जाता है कि पहले गृहपति को दीक्षा देकर ही ब्रह्मा को दीक्षा दी जाती है। इस पौर्वापर क्रम का निर्धारण श्रुति प्रमाण से होता है। अतः यह श्रौतक्रम है।

अर्थक्रमः

'अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति' इत्यत्र यवागूपाकस्य होमार्थत्वेन पाकात्पूर्वं होमस्य कर्तुमशक्यत्वात् पाठक्रमं त्यक्त्वाऽर्थक्रमः स्वीकर्तव्यः । अर्थः प्रयोजनं होमादिरूपं तदर्थं क्रमः अर्थक्रमः। तेन पूर्वं पाकः पश्चाद्धोमः ।

'अग्नि होत्रं जुहोति, यवागूं पचति' इस वाक्य में श्रुति के अनुसार अग्निहोत्र होम का विधान पहले और यवागू पाक का विधान बाद में किया गया है, किन्तु होमादि में प्रयोजन की दृष्टि से यहाँ पाठक्रम को स्वीकार न करके अर्थक्रम को स्वीकार करते हैं। यवागू पाक (जौ की लप्सी) होम के लिए किया जाता है। यवागू पाक द्रव्य से होम करते हैं। पाक के पहले होम असंभव है। यवागू पाक होम के बाद में करने का कोई प्रयोजन नहीं है। अतः, यहाँ प्रयोजन की दृष्टि से अर्थक्रम को ही स्वीकार करते हैं। अर्थक्रम से ही यवागू पाक को पहले और अग्निहोत्र होम को बाद में करते हैं।

पाठयक्रमः

'समिधो यजति', 'तनूनपातं यजति' इत्यादौ विधिवाक्यपाठक्रमादेव समिदादियागानुष्ठानक्रमः ।

'समिधो यजति—तनूनपातं यजति-इडो यजति-बर्हियजति—स्वाहाकारं यजति। इन पाँच वाक्यों में विधि वाक्यों का पाठ जिस क्रम से है उसीक्रम से इसका अनुष्ठान भी करते हैं। चूंकि यागों का अनुष्ठान पाठक्रम के अनुसार करते हैं अतः, इसे पाठयक्रम का उदाहरण मानते हैं।

स्थानक्रमः

तथा ज्योतिष्टोमे औपवसथ्यमहरारभ्य क्रमेणानुष्ठेयानां अग्नीषोमीय-सवनीया-नुबन्ध्यानां पशूनां त्रयाणां साद्यस्काख्ये सोमयागे 'सह पशूनालभेत' इत्येकदाऽनुष्ठानलक्षणं साहित्यं बोधितम, तदपि सवनीयस्य स्थाने विहितम्। तत्र प्राकृतक्रमं परित्यज्य सवनीयस्य स्थाने साहित्यविधानादादौ सवनीयपशोरुपाकरणम् ततोऽग्निषोमीयस्य, ततोऽनुबन्ध्ययायाः इति स्थानात्क्रमः। सुत्यादिवसात्पूर्वमहरौपवसथ्यम्।

ज्योतिष्टोम नामक याग में औपवसथ्य दिन से आरम्भ करके अग्निषोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य नामक तीन पशु याग होते हैं। औपवसथ्य[1] दिन में अग्निषोमीय, सुत्याकाल में सवनीय और अन्तिम दिन आनुबन्ध्य का अनुष्ठान होता है। 'सहपशूनालभेत' उस वाक्य के द्वारा साद्यस्क नामक सोमयाग में पूर्वोक्त तीनों यागों का एक समय में अनुष्ठान साहित्य बतलाया गया है तथा इनका सवनीय स्थान पर अनुष्ठान बतलाया गया है। इन तीनों यागों का स्वाभाविक क्रम है-अग्नीषोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य किन्तु इन तीनों यागों का साहित्य अनुष्ठान सवनीय स्थल पर होता है अतः पहले सवनीय पशु का उपाकरण होगा क्योंकि वह पशु उस स्थान पर उपस्थित है, उसे कहीं दूसरे स्थान से नहीं लाना है। इसके बाद अग्निषोमीय पशु का और अन्त में आनुबन्ध्य नामक पशु का उपाकरण करते हैं। क्योंकि उनको अपने-अपने देश का अतिक्रमण करके, सवनीय स्थल पर लाना पड़ता है। इस प्रकार सवनीय पशु का उपाकरण पहले अग्निषोमीय का उसके बाद और सबसे अन्त में आनुबन्ध्य पशु का उपा-

---

१, 'औपवसथ्य' की व्याख्या डॉ० गजानन शास्त्री ने मीमांसा परिभाषा की टीका में इस प्रकार किया है 'यागीया देवता यागात् पूर्वस्मिन् दिने यजमानस्य गृहं आगत्य निवसन्ति। तासां देवतानां स्थितिरूपो निवासः 'उपवसथ' शब्देनोच्यते। तद्योग्यो दिवसः स औपवसथ्यः।

करण करते हैं क्रम का निर्धारण स्थान के कारण होता है। सुत्या से पूर्व का दिन औपवसथ्य[1] कहलाता है।

सुत्या के एक दिन पहले औपवसथ्य काल में अग्नीषोमीय, सुत्याकाल में सवनीय और अन्तिम दिन आनुबन्ध्य नामक पशु याग का अनुष्ठान होता है। तीनों याग भिन्न-भिन्न देशों में होते हैं किन्तु साद्यस्क नामक विशेष सोमयाग में तीनो यागों के पशुओं का उपाकरण एक स्थान पर, सवनीय स्थान पर होता है।

मुख्यक्रमः

तथा दर्शे सान्नायधर्माणां शाखाच्छेदादीनां पूर्वम्, आग्नेयधर्माणां निर्वापादीनां च अनन्तरं प्रवृत्तावपि मुख्ययोराग्नेयसान्नाय्ययागयोर्मध्ये आग्नेययागस्य पूर्वमनुष्ठानान्मुख्ययागक्रमेणादावाग्नेयपुरोडाशस्य प्रयाजशेषाभिधारणम् ततः पयसोऽभिधारणम्, इति मुख्ययागक्रमादभिधारणक्रमः।

मुख्य क्रम का अर्थ होता है प्रधान याग क्रम अर्थात् मुख्य याग के क्रम से अनुष्ठान मानते हैं, अङ्ग क्रम के अनुसार अनुष्ठान नहीं मानते हैं। जैसे—दर्शयाग में शाखाच्छेदन, वत्सापाकरण, दोहन, आतञ्चनादि क्रिया होती है। सान्नाय्य धर्मों की प्रवृत्ति पहले होती है और निर्वाप आदि आग्नेय धर्मों की प्रवृत्ति बाद में होती है। किन्तु आग्नेय और सान्नाय दोनों मुख्य याग हैं इन दोनों के बीच में 'आग्नेय' याग का पहले अनुष्ठान होगा क्योंकि यह मुख्य यागक्रम के अनुसार 'आग्नेय' याग का अनुष्ठान ही पहले होता है। अतः, पहले आग्नेय पुरोडाश के प्रयाजशेष का अभिधारण होता है। अर्थात् प्रयाज याग के बाद बचे हुए घी का अभिधारण[2] पहले होता है। इसके बाद दूध का अभिधारण होता है। चूँकि यहाँ अभिधारण के क्रम का निर्णय मुख्य याग क्रम के अनुसार होता है इसलिए इसे मुख्य क्रम का उदाहरण मानते हैं।

---

१. सुत्याकाल—जिस दिन सोम लता से सोमरस निकाला जाता हैं वह सुत्यादिवस कहलाता है। जिस स्थान पर सोम निकाला जाता है वह सवनीय देश कहलाता है। सोमरस निकालते समय जिस पशु का अनुष्ठान करते हैं वह सवनीय पशु कहलाता है। सुत्यादिवस से पहले वाले दिन को औपवसथ्य कहते हैं।

२. अभिधारण—अभिधारणं क्षारणम्

प्रवृत्ति क्रमः

तथा 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते' इत्यत्र सप्तदशपशुद्रव्यक-प्रजापतिदेवताकाः सप्तदशयागाः कर्तव्यत्वेन बोधिताः तत्रोपाकरणाख्य आद्यः पदार्थो यतः कुतश्चिदारभ्य यत्र क्वचित् समापनीयः। नियोजनादिकं तु येन क्रमेण उपाकरणं प्रवृत्तं तेनैव क्रमेण कर्तव्यम्। कथम्—प्रकृताव-ग्नीषोमीयपशोरेकत्वेन उपाकरणमादौ कृत्वा द्वितीयक्षणे एव नियोजनम्, तृतीयक्षणे एव प्रोक्षणम् व्यवधानप्रयोजकाभावात्। अत्र तु सप्तदशपशूनां सहानुष्ठेयत्ववचनात्प्रथमतो यत्र क्वचित्पशौ कृतमुपाकरणं स्वाश्रयकर्तव्य-नियोजनाय षोडशभिः क्षणैर्व्यवधानं सहते, न त्वधिकम्। तत्रोपाकरण-क्रमेण नियोजनं प्रथमपशावकृत्वा पश्वन्तरे नियोजनं कृत्वाऽनन्तरं प्रथम-पशौ नियोजनकरणे षोडशक्षणाधिकक्षणव्यवधानं शास्त्राननुमतमापद्यते। तन्निरासायोपाकरणं येन क्रमेण प्रवृत्तं तेनैव नियोजनादिकं कार्यमिति प्रवृत्तिक्रमः।

'सप्तदशप्रजापत्यान्पशूनालभते' इस वाक्य से सत्रह पशुद्रव्यक प्रजा-पति देवताक सत्रह याग का कर्त्तव्य रूप से विधान किया गया है। याग से पूर्व सत्रह पशुओं का उपाकरण[1] और नियोजन संस्कार करते हैं। इनमें से उपाकरण नाम का पहला संस्कार जिस किसी पशु से प्रारंभ करके जिस किसी पशु में समाप्त किया जा सकता है। किन्तु जब उपा-करण संस्कार के बाद नियोजक संस्कार करेगें तब जिस क्रम से उपाकरण प्रारंभ हुआ है, उसी क्रम से नियोजन भी करेंगे। अब यह शंका उठती है कि जिस प्रकार अग्नीषोमीय याग में एक ही पशु का विधान होता है, अतः प्रथम क्षण में उसका उपाकरण करते हैं, द्वितीय क्षण में नियोजन और तृतीय क्षण में प्रोक्षण करते हैं उसी प्रकार प्रजापत्य याग में भी क्यों नहीं करते ? समाधान—अग्नीषोमीय याग के लिए एक ही पशु का विधान होंता है, अतः प्रथम क्षण में उपाकरण, द्वितीय क्षण में नियोजन और तृतींय क्षण में प्रोक्षण ये कर्म अवान्तर क्षण में बिना किसी व्यवधान के हो जाते हैं इनके बीच व्यवधान का कोई प्रयोजक नहीं हैं। प्रजापत्य याग में सत्रह पशुओं का एक साथ अनुष्ठान करने का विधान किया गया

---

१. उपाकरण—पशु विशेष को देवता के निमित्त स्वीकार किए जाने की क्रिया को उपाकरण कहते हैं।

है। ऐसी स्थिति में जिस किसी पशु का उपाकरण करने के बाद अन्य सोलह पशुओं का उपाकरण करेंगे और पुनः जब उस पशु का नियोजन करेंगे तब उस समय सोलह क्षणों का व्यवधान हो जाएगा क्योंकि उन सोलह क्षणों में अन्य सोलह पशुओं का उपाकरण किया गया है। अब उन सोलह पशुओं का उपाकरण करने के बाद, सबसे पहले जिस पशु का उपाकरण किया गया है उसी क्रम से उसका नियोजन भी करना चाहिए। यदि दूसरे पशु का नियोजन करके उसके बाद प्रथम पशु का नियोजन करेंगे तब सोलह क्षणों से अधिक क्षण का व्यवधान हो जाएगा जो शास्त्र द्वारा अनुमोदित नहीं है। अतः, जिस क्रम से उपाकरण की प्रवृत्ति हुई है उसी क्रम से नियोजन की प्रवृत्ति होनी चाहिए। यह प्रवृत्ति-क्रम है।

१. नियोजन—यूप अर्थात् पशु को बाँधने के लिए निर्मित काष्ठ विशेष में पशु को बाँधना।

पृष्ठ सं०	अशुद्ध	शुद्ध
७	स्वर्ग्र	स्वर्गं
	कत्पना	कल्पना
८	साधभूत	साधनभूत
१०	कृष्णयज्व	कृष्णयज्वा
१४	अग्वि	अग्नि
	यजाति	यजति
	स्पष्ठ	स्पष्ट
	अग्नितोमीय	अग्निसोमीय
१६	यजेत्	यजेत
१७	यदाग्नेथो	यदाग्नेयो
	तृतोया	तृतीया
१९	त्रिषापूर्वं	त्रिकापूर्वं
२०	उपन्न	उत्पन्न
	उपत्यपूर्वं	उत्पत्यपूर्वं
२३	इसाप्रकार	इसी प्रकार
२४	प्राप्त	प्राप्ति
	चर्दभ	गर्दभ
२५	इल्यादि	इत्यादि
	नै	ने
२६	द्वितोया	द्वितीया
	करना	करता
	एकामिधानरुपा	एकाभिधानरुपा
२८	अर्थसंग्रकार	अर्थसंग्रहकार
	अमिधां	अभिधा
३२	उदारण	उदाहरण

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
३४	इम	इस
३८	प्रमण	प्रमाण
	दोंनो	दोनों
४०	परार्थ्प	परार्थ्य
४८	मृग की सहायता से	मृग की सींग की सहायता से
४९	इसो	इसी
५४	उपयौग	उपयोग
५५	दध्नानयति	दध्यानयति
६२	अनुष्ठान नहीं जाता	अनुष्ठान नहीं किया जाता
	ऐहिकामुष्किक	ऐहिकामुष्मिक
६५	ससझने	समझने
६६	यजेत्	यजेत
६७	दोती	होती
६९	शब्दी	शाब्दी
७०	शब्दी	शाब्दी
७८	न:म	नाम
९५	गर्दम	गर्दभ
९८	हौता	होता
	सम्पादद	सम्पादन

हमारे कतिपय प्रकाशन